BIHAR YOGA

योगदृष्टि सत्संग शृंखला

भक्ति साधना

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

भक्ति साधना

ॐ, प्रेम, मंगलम्

भक्ति साधना

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

पादुका दर्शन, मुंगेर में 4 से 6 जुलाई 2009 तक आयोजित गुरु पूर्णिमा महोत्सव के अंतर्गत प्रथम योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला में दिये गये प्रवचन



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा *प्रथम प्रकाशन 2012*
पुनर्मुद्रण 2014, 2016

ISBN: 978-93-81620-22-9

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—एजीएन ऑफसेट प्रिंटर्स,
ग्रेटर नोएडा

वेबसाइट: www.biharyoga.net



सविनय समर्पण

श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के चरणों में
जो हमारी आध्यात्मिक यात्रा में सदैव
प्रेरणा और मार्गदर्शन प्रदान करते आ रहे हैं

विषय सूची

भक्त शिरोमणि स्वामी शिवानन्द सरस्वती

प्रात:कालीन सत्र, 4 जुलाई 2009

हमारे परमगुरु, स्वामी शिवानन्द सरस्वती उच्च कोटि के भक्त थे। जब वे ऋषिकेश में गंगा किनारे स्वर्गाश्रम में रहते थे, उनके पास दूसरी कुटिया में एक संन्यासी रहते थे जिनका नाम था स्वामी राजराजेश्वरानन्द। वे देवी माँ के उपासक थे और बारह वर्षों से जप, ध्यान और पूजा की कठोर साधना कर रहे थे लेकिन उन्हें किसी प्रकार की आध्यात्मिक उपलब्धि या प्रगति के संकेत नहीं मिले थे।

यह घटना उस समय की है जब दुर्गा पूजा का समय आने वाला था। स्वामी राज देवी की पूजा रेशमी वस्त्रों, आभूषणों तथा अन्य सामग्री से करना चाहते थे लेकिन उनके पास धन नहीं था।

नवरात्रि के एक दिन पहले किसी ने उनका दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोला तो देखा कि सामने कुछ पंजाबी लड़कियाँ खड़ी हैं। प्रत्येक कन्या के हाथ में एक थाली थी, जिसमें रेशमी वस्त्र, गहने, धन, फल और अन्य पूजा सामग्री रखी थी। उन कन्याओं ने स्वामी राज से कहा– 'हमें स्वामी शिवानन्द जी ने भेजा है, यह सब सामान आपको देने के लिए।'

स्वामी राज को लगा कि मैंने स्वामी शिवानन्द जी को इन सभी वस्तुओं के साथ देवी पूजा की इच्छा बताई थी, इसलिए उन्होंने ये सभी चीजें भिजवायी होंगी और ये सभी कन्याएँ स्वामी शिवानन्द जी की भक्त होंगी।

ऐसा सोच उन्होंने बालिकाओं पर विश्वास करके सारी सामग्री स्वीकार कर ली। इसके बाद उन्होंने कन्याओं से पूछा– 'ये थालियाँ किसकी हैं?' उन



बालिकाओं ने उत्तर दिया, 'अन्न क्षेत्र की।' और ऐसा कह वे थालियाँ लेकर चली गईं।

अब स्वामी राज से रहा नहीं गया। वे सीधे स्वामी शिवानन्द जी के कुटीर गए और दरवाजा खटखटाया। स्वामी शिवानन्द जी दरवाजा खोलकर बाहर आए। स्वामी राज ने स्वामी शिवानन्द जी से पूछा– 'वे लड़कियाँ कौन थीं?'

स्वामीजी ने पूछा– 'कौन-सी लड़कियाँ?'

'वही जिन्हें आपने नवरात्रि पूजा के लिए गहने, वस्त्र आदि लेकर मेरे यहाँ भेजा था।'

स्वामीजी ने कहा– 'मैंने तो किसी को नहीं भेजा।'

स्वामी राज यह सुनकर आश्चर्यचकित रह गए। वे अन्नक्षेत्र के कार्यालय भी गए परन्तु लड़कियाँ वहाँ भी नहीं थीं।

अनेक वर्षों बाद यह घटना स्वामी शिवानन्द जी के शिष्यों को सुनाते हुए स्वामी राज ने कहा कि मैं कई वर्षों से देवी के दर्शन हेतु तपस्या कर रहा था। स्वामी शिवानन्द जी स्वयं कोई तांत्रिक साधक नहीं थे लेकिन उनकी प्रार्थना के कारण ही देवी माँ ने मुझे उन कन्याओं के रूप में दर्शन दिया!

यह सत्य है कि स्वामी शिवानन्द जी ने देवी माँ की कभी औपचारिक रूप से उपासना नहीं की। यह बात उन्होंने स्वयं स्वीकार की जब दक्षिण

भारत से एक विद्वान् आश्रम आए और आश्रम की समृद्धि देखकर टिप्पणी किये कि स्वामीजी ने अवश्य त्रिपुर सुंदरी उपासना में सिद्धि प्राप्त की होगी, तभी तो उन्हें कदम-कदम पर सफलता मिलती है।

स्वामीजी ने उत्तर दिया–'मैंने औपचारिक रूप से त्रिपुर सुंदरी उपासना कभी नहीं की। हाँ, मैं कुछ-एक देवीमंत्रों का पाठ सुबह स्नान के बाद कर लेता हूँ। मगर शायद तुम्हारा कहना सही है। जब भी मैं किसी महिला को देखता हूँ तो मन-ही-मन *'ॐ श्री दुर्गायै नम:'* जैसा कोई देवी मंत्र कहते हुए उसे मानसिक प्रणाम करता हूँ। मेरे लिए सभी महिलाएँ देवी माँ का साक्षात् स्वरूप हैं। यही मेरी श्रीविद्या उपासना है।'

स्वामी शिवानन्द जी की भक्ति उच्च श्रेणी की थी। वह भगवान के किसी विशेष रूप-विग्रह तक सीमित नहीं थी, उन्हें तो हर प्राणी में ईश्वर का दर्शन होता था।

स्वामीजी भक्ति और प्रार्थना को केवल मन्दिर तक ही सीमित रखने के लिए नहीं कहते थे। उनका मानना था कि मन्दिर में पूजा निश्चित रूप से प्रारम्भिक प्रशिक्षण हेतु जरूरी है लेकिन इसका लक्ष्य सारे संसार के साथ भगवान के मन्दिर की तरह और प्रत्येक प्राणी के साथ स्वयं भगवान की तरह व्यवहार करने की शिक्षा देना है।

स्वामी शिवानन्द जी ने गीता में वर्णित विभूति योग को अपने जीवन में आत्मसात् किया था। प्रत्येक वस्तु उन्हें ईश्वर का स्मरण कराती थी। जब वे अपने कमरे से बाहर आते तो गंगा जी और हिमालय पर्वत को देखकर भगवान श्रीकृष्ण का स्मरण करते थे। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा जो है–'मैं नदियों में गंगा तथा अचलों में हिमालय हूँ।' सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र, पेड़-पौधे, नदी-पर्वत, बलिष्ठ पहलवान, मेधावी विद्यार्थी–सभी भगवान की विभूतियाँ हैं, सभी में कुछ-न-कुछ दैवी शक्ति अवश्य है। यहाँ तक कि स्वामीजी चश्मे, जूते जैसे रोजमर्रा की चीजों के साथ भी इस प्रकार व्यवहार करते थे मानो उनमें भगवान उपस्थित हों। चश्मे और फाउंटेन पेन का इस्तेमाल इस प्रकार करते जैसे किसी नवजात शिशु को उठा रहे हों। चश्मे को वापस डिब्बे में रखते तो बड़े धीरे से बन्द करते। शायद इसीलिए स्वामीजी से अपने सम्पूर्ण जीवन में एक वस्तु भी नहीं टूटी। यहाँ तक कि वे जब अपनी शॉल को उठाकर ओढ़ते तो इतनी कोमलता और कलात्मकता के साथ कि ऐसा लगता यदि उन्होंने जरा सी असावधानी बरती तो वे शॉल में स्थित भगवान को आहत कर देंगे!

एक बार स्वामीजी आश्रम कार्यालय में बैठे हुए थे। उन्होंने एक साधक से कोई गीत सुनाने को कहा।

साधक गीत सुनाने लगा। स्वामीजी ने पास बैठे भक्तों से कहा– 'देखो, यह कार्यालय बाजार जैसा है। यहाँ लोग बातचीत कर रहे हैं, गीत भी गाया जा रहा है, टाइपराइटर की भी आवाज हो रही है। परन्तु वास्तव में प्रत्येक वस्तु ईश्वर ही है। न कुछ त्यागना है, न कुछ ग्रहण करना है। बस ऐसा अनुभव करना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। गीत भी ईश्वर है, भक्त भी ईश्वर है, टाइपिस्ट भी ईश्वर है, यहाँ की प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति ईश्वर है।'



भक्ति और भगवान

प्रातःकालीन सत्र, 4 जुलाई 2009

लोग मानते हैं कि भक्ति एक साधना है जिसके द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है, एक विधि है जिसके द्वारा ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त हो सकता है, एक तरीका है जिसके द्वारा मनुष्य अपने भीतर स्थित परमात्मा को जान सकता है। भक्ति के बारे में बहुत सारी मान्यताएँ हैं, लेकिन वास्तव में भक्ति एक जीवनशैली है, जीवन जीने की एक कला है, और कुछ नहीं।

मनुष्य का चित्त तामसिक है। तमस् का मतलब मन में हमेशा घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ, मद, आदि का असर रहता है और जब तक जीवन में इनकी अभिव्यक्तियाँ होती हैं, मनुष्य की वृत्ति चंचल और तामसिक रहती है। घृणा, लोभ या क्रोध, ये सब मन की तामसिक अभिव्यक्तियाँ हैं और इसी तमस् में हम जीवन के सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, इसी तमस् की सीमाओं का अतिक्रमण कर हम सुख, शान्ति और समृद्धि की कामना करते हैं।

जीवन में कभी तामसिक विचारों से प्रेरित होकर, कभी सात्त्विक विचारों से प्रेरित होकर तो कभी राजसिक विचारों से प्रेरित होकर हम भगवान की आराधना करते हैं। चाहे मनुष्य तमस् से प्रेरित हो या रजस् से या सत्त्व से, उसे प्रार्थना करने का अधिकार है। यह गलत नहीं है। किन्तु यह आराधना भक्ति की पूर्ण व्याख्या नहीं है।

भक्ति में एक भक्त का भगवान के साथ जो सम्बन्ध होता है उस सम्बन्ध में भक्त अपने जीवन में प्रकाश और सात्त्विक सद्‌गुणों का अनुभव करता है और एक सात्त्विक मानसिकता में अपने आपको स्थिर करता है। भक्ति सात्त्विक जीवन की अन्तिम परिणति, अन्तिम उपलब्धि है। जबकि

भोगमय जीवन तामसिक जीवन की उपलब्धि, परिणति और प्रभाव है। इसी चिन्तन में भक्ति अपने आपको एक अलग साधना, एक अलग विधि के रूप में दिखाती है।

हमारे मनीषियों, ऋषि-मुनियों और सन्त-महात्माओं ने कहा है कि अगर जीवन का उत्थान चाहते हो तो तुम्हें भक्ति मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। समाधि से जीवन का उत्थान नहीं होता, जीवन की एक उच्च अनुभूति की प्राप्ति होती है। लेकिन यह अनुभूति स्थायी और स्थिर नहीं रहती। जब तक आँखें बन्द हैं, मनुष्य समाधि और ध्यान की अवस्था में आनन्दमग्न रहता है पर जैसे ही आँखें खुलती हैं, मनुष्य का चिन्तन पुनः संसार की ओर प्रेरित हो जाता है, संसार की ओर आकर्षित हो जाता है। मनुष्य के बहिर्मुखी मन से चेतना की अविरल धारा में बाधा उत्पन्न होती है। जब इस चेतना की अविरल धारा में बाधा उत्पन्न हो जाए, तब मनुष्य भक्ति का अनुभव कैसे करेगा?

भक्ति को लोग आराधना के रूप में मानते हैं, यह सत्य है, लेकिन यह आराधना के अतिरिक्त एक जीवनशैली भी है, मनोविज्ञान भी है, जिसके द्वारा हम अपने जीवन की तामसिक अवस्थाओं से मुक्त होकर सात्त्विक अवस्था में स्थित होकर आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों का अनुभव कर सकते हैं। यही भक्ति की कहानी है।

जीवन में दो चीजें हैं, माया और भक्ति। तामसिक अवस्था में मनुष्य माया के अधीन रहता है और सात्त्विक अवस्था में भक्ति के। माया के प्रभाव में मनुष्य अपने अस्तित्व को, अपने स्वरूप को भूल जाता है, शान्ति से दूर हो जाता है। जबकि भक्ति के प्रभाव में मनुष्य अपने जीवन में सुख-शान्ति का अनुभव करता है, चाहे वह कितना ही परेशान और तनावग्रस्त क्यों न हो।

ईश्वर की परिभाषा

तामसिक अवस्था को पार करने के लिए अपने मन को, भावना को ईश्वर से जोड़ना है। पर यह ईश्वर है कौन, जिससे मन को जोड़ना है, जिसके प्रति अपनी श्रद्धा को बढ़ाना है? इसका उत्तर वेदों में दिया है।

प्रत्येक मनुष्य के भीतर ईश्वर का वास हृदय में होता है, ज्योति के रूप में। जब कुछ भी नहीं था तब उस समय मात्र एक ज्योति थी, जिसे चैतन्य ज्योति कहते हैं। वह ज्योति कभी बुझती नहीं है और सभी प्रकाशों के लुप्त होने पर भी वह ज्योति स्वतः प्रकाशित रहती है।

जब सृष्टि नहीं थी, जीव नहीं थे, प्राणी नहीं थे, ग्रह-नक्षत्र नहीं थे, कुछ भी नहीं था, तब शून्य में चारों तरफ अंधकार फैला था, अंतरिक्ष स्तब्ध था। उस समय अंधकारपूर्ण वातावरण में एक ज्योति स्वत: प्रकट होती है और उसी चैतन्य ज्योति को देवता कहा गया। देवता उस चैतन्य ज्योति का प्रतीक है। देवता शब्द संस्कृत के *दिव्* धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रकाशित होना। प्रकाश रूप में यही चैतन्य ज्योति गहन अंधकार में प्रकट होती है और वह देवता का प्रथम व्यक्त रूप होता है।

ईश्वर का सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् स्वरूप–देवता को भक्त भगवान भी कहता है, लेकिन यह देवता है कौन? जिसने इसका दर्शन किया, जो इस अनुभव का साक्षी बना, उसने इस देवता को सदाशिव नाम दिया। किसी ने परमेश्वर नाम दिया। देवता को अलग-अलग नाम दिये गये, किन्तु चाहे हम उसे सदाशिव कहें या पुरुषोत्तम या परमेश्वर, उसका मूल स्वरूप चैतन्य ज्योति है। सदाशिव का मूल स्वरूप चैतन्य ज्योति है, परमेश्वर का मूल स्वरूप चैतन्य ज्योति है, नाम चाहे जो भी रहे, चाहे उसे महेश्वर कहो या परमेश्वर। यह निर्विवाद है कि उसमें सत्य है, सौन्दर्य है और मंगल की भावना है। इसीलिए देवता के प्रथम स्वरूप, सदाशिव या परमेश्वर को सत् स्वरूप, शिव स्वरूप और सौन्दर्य स्वरूप कहा गया–*सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्*।



उसका अपना कोई आकार नहीं, कोई आकृति नहीं, कोई शरीर नहीं, वह तो समस्त गुणों और अभिव्यक्तियों का समग्र रूप है। सब कुछ उसी में अंतर्निहित है। उसका कोई साकार स्वरूप नहीं, वह निराकार स्वरूप है। निराकार में वह सत्य है, शिव है और सुन्दर है। उसी चैतन्य ज्योति से संसार का विस्तार होता है।

सच्चिदानन्द स्वरूप–जो सत् है, वही इस संसार के विस्तार का, विकास का कारण है और इस वजह से वह चित् नाम से भी जाना जाता है। उस सत्य की उपलब्धि दु:ख में नहीं, आनन्द में होती है। आनन्द उसका तीसरा रूप है। इस प्रकार उस परम तत्त्व को सत्-चित्-आनन्द रूप से भी जाना गया। जो सत्य है, जिस सत्य में हमेशा आनन्द की अनुभूति होती है और जिस सत्य को स्थापित करने से विश्व का चित् के रूप में विस्तार होता है, वही सच्चिदानन्द है, वही सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् है, वही जगत् के पिता हैं, वही जगत् की माता हैं और उन्हीं से संसार और सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है।

पंचतत्त्वमय स्वरूप–पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश–ये पंच तत्त्व उसी परम तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। ये पाँच तत्त्व उस परम चेतना, चैतन्य ज्योति के पाँच शरीर हैं, जिनके द्वारा वह अपने को जगत् में व्यक्त करती है। ईश्वर की अनुभूति अगर हो तो कहाँ होगी? आकाश में, वायु में, अग्नि में, जल में या थल में। यही ईश्वर का पंचतत्त्वमय शरीर है।

धरती ईश्वर है, जल ईश्वर है, अग्नि ईश्वर है, वायु ईश्वर है और आकाश ईश्वर है। ये पाँच तत्त्व ईश्वर के रूप हैं, शरीर हैं, जिनसे समस्त सृष्टि का विकास और विस्तार होता है। हम लोग उसी के परिणाम हैं। हम लोगों का शरीर भी इन्हीं पाँच तत्त्वों से निर्मित है, कोई छठा तत्त्व नहीं है इसमें। और इसी शरीर के भीतर ईश्वर का वास है।

पंचतत्त्व परमात्मा का शरीर है और माया उसकी अंतर्निहित शक्ति। जैसे एक पहलवान और एक दुबले-पतले मनुष्य के शारीरिक बल में अन्तर होता है, लेकिन अन्तर होते हुए भी बल शरीर के भीतर छिपा रहता है, वैसे ही उस परमात्मा का भी बल रहता है, शक्ति रहती है जो उसी में छिपी रहती है, उसी में विद्यमान रहती है। उस शक्ति को कहते हैं माया।

ब्रह्मा-विष्णु-शिव स्वरूप–परमात्मा के जो तीन स्वरूप संसार के विकास में कार्य करते हैं, वे हैं ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप। ब्रह्मा रूप में वही परमात्मा सृजन का कार्य करता है, विष्णु रूप में वही पालन का कार्य करता है और

शिव रूप में, रुद्र रूप में वही परिवर्तन का कार्य करता है। मैंने यहाँ परिवर्तन शब्द का प्रयोग किया है। परिवर्तन का मतलब होता है एक नया विकास। जब किसी नयी चीज का विकास होना है तब पुरानी चीज को समाप्त होना पड़ेगा। जब नयी चीज को जन्म देना है तो जो पुरानी है वह तो परिवर्तित होगी ही। इस प्रकार परिवर्तन है शिव शक्ति, पालन है विष्णु शक्ति तथा सृजन है ब्रह्मा शक्ति और ये तीन उस अव्यक्त, अनादि, अनन्त परमेश्वर के व्यक्त रूप हैं, जिनके द्वारा वह अपने कार्यों को सम्पादित करने में सक्षम होता है।

विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर स्वरूप– शास्त्रों में कहा है कि समस्त ब्रह्माण्ड उस परमात्मा का विराट् रूप है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के विराट् रूप दर्शन में क्या देखा था? सभी ब्रह्माण्डों, सभी प्राणियों एवं जीवों, सभी पर्वतों एवं नदियों, सूर्य-चन्द्र आदि सभी ग्रह-नक्षत्रों को देखा था उस विराट् स्वरूप में। जो भी उस अव्यक्त से प्रकट हुआ है, जो भी दृश्य है, जहाँ तक सृष्टि का अनुभव होता है, वह सब ईश्वर का विराट् रूप है।

प्राणी अपने जीवन में जो भी अनुभव करता है, वह मन, बुद्धि या भावना के द्वारा करता है, अंत:करण के द्वारा करता है। यह अंत:करण परमात्मा का हिरण्यगर्भ रूप है। विराट् स्वरूप में आप, हम, धरती, सूरज-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, ब्रह्माण्ड सब हैं, यह परमात्मा का स्थूल स्वरूप है। जबकि सूक्ष्म स्वरूप अर्थात् मन, बुद्धि, भावना, अहंकार, वासनाओं और कामनाओं के नियंता हैं हिरण्यगर्भ।

परमात्मा का तीसरा स्वरूप ईश्वर का होता है। पहला विराट् स्वरूप, जो स्थूल हुआ; दूसरा हिरण्यगर्भ, जो सूक्ष्म हुआ; और तीसरा ईश्वर, जो कारण रूप में जगत् के हर प्राणी में, हर कण में विद्यमान है। कण-कण में भगवान। जो कारण रूप में, प्रतिभा रूप में, बीज रूप में हर व्यक्ति के अन्दर विद्यमान रहता है, उसे ईश्वर कहते हैं।

वृक्ष के बीज के अन्दर न वृक्ष दिखलाई देता है, न उसके पत्ते, न तना, न फूल। लेकिन वे सब उस बीज में कारण रूप से विद्यमान रहते हैं। कारण रूप से विद्यमान होने का मतलब विकास एवं प्रगति की सम्भावना का होना। उसी बीज रूप में विद्यमान सम्भावना को कहा गया है ईश्वर। जो सम्भावना कल थी, आज भी है और कल भी रहेगी।

ईश्वर कारण सम्भावना है, जैसे बीज में उपज की सम्भावना रहती है। बीज को छ: महीने बाद भी लगाओगे तो अंकुरित होगा। अगले मौसम में



लगाओगे तब भी अंकुरित होगा। उस बीज में विकास की सम्भावना निहित है, उस बीज में ईश्वरत्व छिपा है। वही उस बीज के विकास का कारण है।

उस अव्यक्त, अनादि और अनन्त सत्ता का पहला अनुभव मनुष्य अपने जीवन में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के रूप में करता है, और फिर सत्, चित् और आनन्द के रूप में, जो उसका मूल स्वभाव है। ईश्वर की अभिव्यक्ति पंचतत्त्वों में भी है, और ईश्वर के तीन कर्त्ता स्वरूप भी हैं– ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ये अलग-अलग नहीं हैं। उपासना के दृष्टिकोण से, धर्म के दृष्टिकोण से इनको नि:संदेह अलग-अलग तरीके से समझाया गया है। किन्तु आप अपने जीवन को देखिए। क्या आप पुत्र हैं या पिता हैं या भाई हैं? किसी के लिए तो आप भाई हो, किसी के लिए आप पुत्र हो, किसी के लिए आप पिता हो। हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग पात्र होकर भी मूल में मनुष्य हो। आपका बेटा आपको मनुष्य नहीं पिता कहता है। आपकी पत्नी आपको मनुष्य नहीं पति कहती है। वही पत्नी किसी की बहन है, तो किसी की माँ। हर समय उसके कार्य अलग होते हैं। पत्नी रूप में उसका कर्त्तव्य अलग है, माता रूप में अलग। एक ही मनुष्य में अनेक गुण और कर्त्तव्य दिखलाई देते हैं।

उसी प्रकार से ईश्वर का ब्रह्मा रूप उसकी सृजनात्मक प्रतिभा का स्वरूप है। जब मिट्टी को लेकर मनुष्य पात्र बना देता है, तब वह मिट्टी एक

परिवर्तित पदार्थ के रूप में दिखलाई देती है। जिस व्यक्ति ने वह पात्र बनाया, उसे तुम कुम्हार की उपमा देते हो। उसी प्रकार से जिसने संसार बनाया, लोग कहते हैं कि ब्रह्मा है। जिसने संसार का पालन किया, वह विष्णु है और जो परिवर्तन को लाया, लोग कहते हैं कि शिव है। तत्त्व एक है, पर उसके तीन अलग कार्य होते हैं। इसी कारण ईश्वर के तीन रूप दिखलाई देते हैं, जिन्हें हमारे शास्त्रों में, हमारे धर्मों में, हमारी उपासना पद्धतियों में अलग मान्यताएँ प्रदान की गई हैं।

ईश्वर के पाँच कर्म

परमात्मा विराट् है, हिरण्यगर्भ है और ईश्वर है, अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण है। इस अव्यक्त, अनादि और अनन्त देवता के पाँच कर्म होते हैं। पहला कर्म है सृष्टि, दूसरा कर्म है पालन और तीसरा कर्म है परिवर्तन। चौथा कर्म है तिरोभाव या तिरोधान, जिसका मतलब मन को भ्रमित कर देना। मन को भ्रमित करने का तात्पर्य है, माया को खुली छूट देना कि तुमको इस व्यक्ति के साथ जो करना है सो करो। बरगलाना है, बरगला दो। भ्रमित करना है, भ्रमित कर दो। जब ज्ञान पर अविद्या का आवरण हो जाता है तब ज्ञान का प्रकाश दिखलाई नहीं देता। अविद्या का आवरण उस ज्ञान के प्रकाश को ढँक देता है। वह है माया का आवरण। यह ईश्वर का चौथा कर्म है। और पाँचवा कर्म है अनुग्रह या कृपा।

सृष्टि हो गई, सृष्टि का पालन भी हो रहा है, सृष्टि में परिवर्तन भी हो रहा है, लेकिन यह जो चौथी स्थिति है तिरोभाव की, इसमें मन भ्रमित हो जाता है, विवेक-बुद्धि और ज्ञान को खो देता है, और संसार में ही लिप्त हो जाता है। यह तामसिक अवस्था है। लिप्त होने का मतलब अपने आप को भूल गया। मैं भूल गया कि मैं हूँ। जिस रंग का चश्मा मैंने अपनी आँखों पर पहना है उसी रंग में अपने आप को और अपने संसार को देखता हूँ। वास्तविकता का, अपने स्वरूप का बोध नहीं होता।

पाँचवा कर्म है अनुग्रह। व्यक्ति को पुनः उत्थान के मार्ग पर ले आना। तिरोभाव में माया है और अनुग्रह में भक्ति। यहाँ माया और भक्ति के दो रूप दिखलाई दे रहे हैं। मन भ्रमित होता है तो हम माया के अधीन हैं। हम अपने विवेक को खो देते हैं। बुद्धि संकीर्ण हो जाती है, संसार के विषयों की ओर प्रवाहित होने लगती है। उसी में ही ध्यान जाता है, उसी में ही आकर्षण होता

है, उसी में ही आनन्द आता है। यह माया है। और अनुग्रह भक्ति है। ईश्वर की कृपा किसी पर हो जाए तो उसके भीतर एक सकारात्मक परिवर्तन होगा जो ईश्वर को उसके जीवन में अवतरित करेगा, जो उसे ईश्वर से जोड़ेगा। अनुग्रह के कारण ही भक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार सृष्टि, पालन, परिवर्तन, तिरोभाव और अनुग्रह परमात्मा के पाँच कर्म माने गए हैं।

ईश्वर के छः गुण

परमात्मा के छ: गुण होते हैं। पहला गुण है ज्ञान। परमात्मा सभी का साक्षी होता है, सभी को देखता है। वह कभी अपने आपको संसार में झोंकता नहीं है। प्रकृति सारा काम करती है। माया पूरे संसार को नचाती है। और ईश्वर मात्र द्रष्टाभाव से, साक्षी भाव से सब कुछ देखता रहता है। जैसे बच्चों के खेल को अभिभावक द्रष्टा भाव से देखते हैं, वैसे ही परमेश्वर भी प्रकृति की सभी कृतियों को द्रष्टाभाव से देखता रहता है। और द्रष्टा होने के कारण उसमें ज्ञान है। ज्ञान ईश्वर का पहला गुण हुआ।

ईश्वर का दूसरा गुण–वह ऐश्वर्यों का केन्द्र है, ऐश्वर्यों का स्रोत है। समस्त ब्रह्माण्ड में जो भी ऐश्वर्य या विभूति मनुष्य प्राप्त करता है, वह सब ईश्वर की ही देन है।

ईश्वर का तीसरा गुण है वैराग्य। ईश्वर किसी से आसक्त नहीं है। ईश्वर किसी को न कम चाहता है, न ज्यादा। जैसे संसार में सभी स्थानों पर सूर्य का



प्रकाश समान रूप से पड़ता है, वैसे ही परमात्मा का प्रकाश, ज्ञान, प्रेम और ऐश्वर्य भी सभी को समान रूप से प्राप्त होता है। मान लो आपके घर में छः बच्चे हैं। अगर आप उन सभी छः बच्चों को समान रूप से देखते हो, उनके साथ एक समान बर्ताव करते हो, किसी एक के प्रति ज्यादा आसक्त नहीं हो तो आप में भी वैराग्य है। ईश्वर के लिए सभी समान हैं। अगर वह टॉफी देगा तो एक-एक करके सबको देगा ताकि सबको मिले। अगर एक को दस टॉफी देगा तो दूसरे को भी दस देगा। वह कभी भी किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता, किसी में आसक्त नहीं है। भेदभाव तो तब होता है जब मनुष्य आसक्ति और अनासक्ति के बीच डाँवाडोल होता रहता है। लेकिन जिसकी दृष्टि समान है, जिसका राग से सम्बन्ध नहीं है, उसको वैराग्य है।

ईश्वर का चौथा गुण है बल और सामर्थ्य। वह सब कुछ करने में सक्षम है। संसार में कुछ भी ऐसा नहीं जो वह न कर सके। सभी उसके द्वारा ही प्रेरित होते हैं। वह सम्पत्ति, समृद्धि और धन भी है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने जीवन के अभावों से मुक्त हो जाता है। और वह यश और कीर्ति भी है, जिससे हृदय में आनन्द की लहर दौड़ जाती है।

ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, बल, अरि (सम्पत्ति या धन) और कीर्ति–ईश्वर के ये छः गुण माने गए हैं। और ईश्वर इस संसार में चार चीजों का स्वामित्व रखता है–इन्द्रियों का, प्राणों का, शरीर का और मन का।

ईश्वर का निवास-स्थान

शास्त्रों में कहा गया है कि ईश्वर का वास सभी जीवों के हृदय में होता है, जहाँ वह ज्योति रूप में रहता है। शरीर का सबसे तगड़ा अंग, सबसे कर्मठ अंग हृदय होता है। आँख काम करना बन्द कर दे, जिन्दगी चलेगी। कान, हाथ, पैर, पेट या दिमाग काम करना बन्द कर दें, तो भी जिन्दगी चलेगी। लेकिन हृदय काम करना बन्द कर दे तो वहीं पर जिन्दगी का 'हरि ॐ तत्सत्' हो जाता है। शरीर का सबसे तगड़ा अंग हृदय होता है। ईश्वर का वास भी ऐसे स्थान पर है जो हमारे शरीर का सबसे मजबूत अंग माना गया है। हृदय में वह ज्योति रूप में स्थित है।

वह तुममें है और तुम उनमें हो। हर व्यक्ति परमात्मा का अंग है, परमात्मा भी हर व्यक्ति का अंग है। जैसे तुम्हारे शरीर में तुम्हारे जीन्स तुम्हारे बाप के हैं। एक तरह से देखा जाए तो बाप तुममें है और तुम बाप में हो, क्योंकि दोनों

के जीन्स समान हैं। उसी प्रकार तुममें परमात्मा है और तुम परमात्मा में हो। वही आदि पिता है–तुम्हारे, हमारे, सबके। जीन्स भी सबके बराबर हैं। तब फिर प्रश्न करोगे कि इतना अन्तर क्यों? इसका उत्तर भी सीधा है। तिरोभाव के कारण अन्तर हो जाता है। माया के कारण अन्तर हो जाता है।

किसी के जीवन में माया का आवरण प्लास्टिक जैसा पतला और पारदर्शी होता है तो किसी के जीवन में कम्बल या रजाई जैसा मोटा। जिसके जीवन में माया का आवरण रजाई जैसा मोटा हो, उसमें से क्या प्रकाश बाहर निकलेगा? लेकिन जीवन में माया का आवरण प्लास्टिक जैसा पारदर्शी हो जाए, आवरण तो रहेगा पर उसमें से प्रकाश दिखलाई देगा। इस तरह माया का आवरण ही मनुष्य में भेद करता है। इस माया को हटा दो, तो सभी भेद-भाव समाप्त हो जाते हैं। सब भेद समाप्त हो गये तो भक्ति ही शेष रह जाती है और कुछ नहीं।

भगवान का साकार और निराकार स्वरूप

परमेश्वर अपने आपको इस संसार में व्याप्त कर लेता है, संसार के सभी अणु-परमाणुओं में अपने आपको विद्यमान कर लेता है। सम्पूर्ण जगत् भी उसी परमेश्वर में समाहित रहता है। यह उस परमतत्त्व का निराकार रूप है। संसार में जब प्राणी जन्म लेता है, वह निराकार को जान नहीं सकता। उस निराकार को समझने के लिए साकार अभिव्यक्ति की आवश्यकता होती है। उस निराकार को आज तक कौन जान पाया है? ईशावास्य उपनिषद् में कहा गया कि यह सम्पूर्ण जगत् ही ईश का आवास है।

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

अन्य उपनिषदों में भी कहा गया कि ईश्वर का अस्तित्व तुम अपने ही चारों तरफ देखो। ब्रह्माण्ड में क्यों खोजते हो? अपने को ही देख लो, अनुभव हो जाएगा, क्योंकि वह तुममें है, सारा जगत् उसी का निवास है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है–

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

एको देव: सर्वभूतेषू गूढ:–देवता एक है। वह सभी भूतों में गूढ़ है, छिपा हुआ है। *सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा*–वह सर्वव्यापी है, सभी भूतों में स्थित आत्मा है। *कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास:*–वह सभी कर्मों का नियंता है और सभी जीवों में उसका वास होता है। *साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च*–वह सभी का साक्षी है और सभी गुणों से मुक्त है। यह परमात्मा का निराकार स्वरूप है।

जब प्राणी इस संसार में आता है, तब वह निराकार को कैसे जान सकता है? उसकी बुद्धि तो माया द्वारा भ्रमित हो चुकी है। माया ने उस प्राणी को ही नहीं, बल्कि सारे संसार को भ्रमित करके रखा है। इसलिए जब जीव का जन्म होता है, तब उसको अपने घर-परिवार या समाज से जो संस्कार मिलते हैं, वे भ्रमित संस्कार होते हैं। भ्रमित संस्कार का मतलब वह संस्कार जो हमें अपने माता-पिता से प्राप्त हुआ है, समाज से प्राप्त हुआ है, बुद्धि द्वारा निर्मित है, आकांक्षा द्वारा प्रेरित है। ऐसे ही संस्कारों को हम प्राप्त करते हैं, और इन्हीं संस्कारों को सिद्ध करने के लिए फिर ईश्वर की आराधना भी करते हैं।

आराधना के लिए ईश्वर के दो प्रतीक होते हैं–साकार और निराकार। गीता में कहा है कि चार प्रकार के भक्त होते हैं–आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। निराकार रूप को ज्ञानी जान सकते हैं और जिज्ञासु समझने का प्रयत्न कर सकते हैं, जबकि साकार रूप की उपयोगिता होती है आर्त और अर्थार्थी के लिए। जो आर्त है, जो जीवन से दु:खी है, जो जीवन में सहारे की खोज करता है, जो जीवन के अभावों को दूर करने का प्रयास करता है और जो अर्थार्थी है, जो किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि हेतु उपासना करता है, वह हमेशा साकार की ही उपासना करेगा। इस प्रकार निराकार का अनुभव करने, निराकार के अस्तित्व को जानने का प्रयास जिज्ञासु तथा ज्ञानी करते हैं जबकि आर्त और अर्थार्थी साकार की उपासना करते हैं।

संसार में जितने भी प्राणियों ने जन्म लिया है, सब आर्त और अर्थार्थी हैं। हम आर्त हैं, हमारे जीवन में क्लेश है, हमारे जीवन में दु:ख है, इससे हम मुक्ति चाहते हैं। हम अर्थार्थी हैं, हमारे जीवन में अभाव हैं, जिन्हें हम दूर करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में हमें एक ऐसे स्वरूप की आवश्यकता होती है जिसमें हम अपने मन को टिका सकें। लेकिन जो आत्मान्वेषण कर रहा है, जो बाहर की परिस्थितियों को अपने अनुकूल नहीं बनाना चाहता बल्कि अपने को ईश्वर के अनुकूल बनाना चाहता है, वह जिज्ञासु है, वह ज्ञानी है।

भगवान कहाँ रहते हैं?

एक बार सम्राट् अकबर ने अपने सभासदों से कुछ प्रश्न किये थे, जिनका जवाब कोई नहीं दे पाया। तब अकबर ने बीरबल को बुलाया और कहा कि मुझे प्रश्नों का जवाब चाहिए। पहला प्रश्न– 'भगवान कहाँ रहते हैं?' बीरबल ने अकबर को जवाब दिया, 'जहाँपनाह, भगवान सर्वव्यापी हैं। उनका अपना कोई स्थान नहीं है, लेकिन भक्त भगवान का दर्शन अपने हृदय में करते हैं।' ईश्वर सर्वव्यापी है, वह सभी स्थानों में रहता है। भक्त लोग उस ईश्वर का दर्शन अपने हृदय में करते हैं। इसलिए यह मानकर चलो कि ईश्वर सभी भक्तों के हृदय में वास करते हैं।

भगवान क्या करते हैं?

अकबर ने कहा, 'बीरबल, तुम्हारी बात स्वीकार है। दूसरा प्रश्न, भगवान करते क्या हैं?' बीरबल कहता है, 'महाराज! इसका उत्तर देने के लिए मुझे ऊँचा आसन चाहिए। आप मुझसे प्रश्न पूछ रहे हैं, आपको नीचे जमीन पर बैठकर इस प्रश्न के उत्तर को सुनना चाहिए।' अकबर ने कहा, 'ठीक।' बीरबल को अपने सिंहासन पर बैठाया और वह खुद उसके सिंहासन के नीचे बैठ गया। कहा, 'अब बताओ भगवान करते क्या हैं?' बीरबल ने कहा 'जहाँपनाह, जो ऊँचा रहता है, उसको भगवान नीचे ले आते हैं और जो नीचा रहता है, उसको भगवान ऊपर कर देते हैं। आप ऊँचे बैठे थे, भगवान ने आपको नीचे बैठा दिया। मैं पहले नीचे खड़ा था, भगवान ने मुझे आपके आसन पर बैठा दिया। यही भगवान का काम है। ईश्वर कभी किसी चीज को स्थायी रूप नहीं देते। सतत् परिवर्तन ही ईश्वर का काम है।'

भगवान क्या खाते हैं?

अकबर ने कहा, 'ठीक। अब यह बताओ कि ईश्वर क्या खाते हैं? जो लड्डू, केला और नैवेद्य भोग में चढ़ाए जाते हैं, क्या ईश्वर उसी को खाते हैं?' बीरबल ने कहा, 'नहीं महाराज। जो लड्डू, नैवेद्य या फल-फूल आप चढ़ाते हो, उनकी ओर ईश्वर देखते भी नहीं। पण्डित लोग ही उसका उपयोग करते हैं। फिर ईश्वर खाते क्या हैं? ईश्वर मनुष्य के अहंकार को खाते हैं। जब तक मनुष्य के मन में अहंकार है, वह ईश्वर के पास नहीं जा पायेगा। और जिस दिन मनुष्य अहंकार से मुक्त हो जाएगा, ईश्वर की अनुभूति उसको स्वत:

होगी। इसलिए ईश्वर मनुष्य के अहंकार का भक्षण करते हैं, लड्डू, पेड़ा, नारियल आदि भोग का नहीं।'

भगवान अवतार क्यों लेते हैं?

अकबर कहता है, 'बीरबल, अब चौथा प्रश्न। हिन्दू कहते हैं कि ईश्वर खुद अवतार लेते हैं, खुद इस धरती पर आते हैं। जबकि इस्लाम में कहा है कि सर्वशक्तिमान ईश्वर को खुद आने की जरूरत नहीं। वे तो किसी को भी आदेश दे देते हैं। उनके आदेश से पैगम्बर धरती पर आकर ईश्वर की शिक्षा देते हैं। ईश्वर में इतना सामर्थ्य है कि किसी से कुछ भी करा सकते हैं, लेकिन हिन्दू कहते हैं कि दु:खों को मिटाने के लिए, दुष्टों को समाप्त करने के लिए ईश्वर खुद आते हैं। वे खुद क्यों आते हैं?' बीरबल ने कहा, 'महाराज! यह बतलाने के लिए मुझे एक दिन का समय चाहिए।'

यह प्रश्न अवतारवाद से सम्बन्धित है। अवतार आखिर क्यों होता है? गीता में कहा गया कि अवतार धर्म की स्थापना के लिए, दुष्टों के नाश के लिए, साधुओं को आनंदित करने के लिए होता है। अकबर के मन में यह संदेह था कि जब भगवान सर्वशक्तिमान हैं, तब उनको खुद क्यों आना पड़ता है।

बीरबल ने एक दिन का समय माँगा और चला गया जहाँ अकबर का बेटा अपनी दाई के साथ खेल रहा था। दाई से कहा कि शाम को जब सम्राट् अकबर भ्रमण के लिए बगीचे में आते हैं और तलाब के पास घूमते हैं तब उस समय तुम एक लकड़ी के गुड्डे को पानी में डाल देना और हल्ला करना कि शाहजादा पानी में डूब रहा है। ऐसा कह बीरबल चला गया।

शाम को जब अकबर और बीरबल दोनों उद्यान में घूमने के लिए आते हैं तो पूर्व-व्यवस्था के अनुसार दाई लकड़ी के एक गुड्डे को पानी में डालकर चिल्लाने लगती है कि शाहजादा पानी में गिर पड़ा है। जैसे ही अकबर के कानों में यह आवाज पहुँची, वह दौड़ते हुए वहाँ गया, आव देखा न ताव, सीधे पानी में कूद गया और अपने बच्चे को बाहर निकाला।

बीरबल कहता है, 'महाराज, आपके पास इतने नौकर-चाकर हैं। इतने सभा के सदस्य आपके साथ घूम रहे हैं। आपने किसी को क्यों नहीं कहा कि जाकर बच्चे को बचा लो? किसी भी दरबारी या सैनिक को बोल देते कि बच्चा पानी में गिर गया, बचा लो। आपको क्या जरूरत पड़ी थी खुद पानी में कूदने की?'

अकबर ने कहा, 'बीरबल, तुम समझते नहीं हो। मैं उसका पिता हूँ, वह मेरा बेटा है। मुझमें अपनत्व की भावना है। मैं सैनिकों को क्यों कहूँ कि वे जाकर मेरे बेटे को बचायें, जब मैं खुद उसे बचा सकता हूँ।'

बीरबल ने कहा, 'महाराज, आपने स्वयं अपने चौथे प्रश्न का जवाब दे दिया। ईश्वर अपनत्व के कारण धरती पर आते हैं। वे जानते हैं कि इस व्यक्ति को मेरी आवश्यकता है, यह मुझे याद कर रहा है। अपनत्व के कारण ईश्वर आते हैं और अपनत्व की भावना ही ईश्वर को मनुष्य शरीर धारण करने के लिए प्रेरित करती है।'

प्रतिमा या प्रतीक की आवश्यकता

अकबर ने कहा, 'ठीक है, तुमने जो बात बतलायी मैंने मान ली। पर बतलाओ कि अनादि, अव्यक्त, अनन्त भगवान को तुम साकार रूप में कैसे बाँध देते हो? हम मानते हैं कि परमेश्वर का कोई रूप नहीं, वह अचिन्त्य है, अव्यक्त है, उसकी कोई आकृति नहीं। जबकि तुम्हारे यहाँ आकृति है, चाहे राम की या कृष्ण की या शिव की या विष्णु की। इन सबकी क्या आवश्यकता है?'

बीरबल कहता है, 'महाराज, एक काम करते हैं। आप दरबारियों को कह दीजिये कि दरबार में लगे आपके पिताजी के चित्र पर थूकें।' अकबर आग-बबूला हो गया, कहा, 'ऐसी बात कहने की तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई?'

बीरबल ने कहा, 'महाराज, वह तो निर्जीव चित्र है न, मात्र कपड़े और रंग से बना हुआ। उसके ऊपर थूकने में आपत्ति किसको हो सकती है? आप कहिये तो मैं थूक देता हूँ।'

अकबर ने कहा, 'बीरबल, खबरदार! क्या तुमको नहीं मालूम कि वह मेरे पिताजी का चित्र है?'

बीरबल ने कहा, 'महाराज, चित्र तो निर्जीव है, लेकिन जब आप उसे देखते हैं तो आपके मन में एक भावना प्रकट होती है। आप अपने पिता के चित्र पर थूक नहीं सकते, आपके मन की भावना ने आपको उनसे जोड़ रखा है। उसी प्रकार जब एक भक्त प्रतिमा की आराधना करता है तो वह उस प्रतिमा में अपने आराध्य को, अपने ईश्वर को देखता है। प्रतिमा एक प्रतीक मात्र है, और कुछ नहीं। एक साधक के लिए, एक भक्त के लिए प्रतिमा आवश्यक है, उसी के द्वारा वह ईश्वर के प्रति श्रद्धा, विश्वास और प्रेम की भावना व्यक्त कर पायेगा। जब आप अपने पिता के चित्र को देखते हो तो क्या अनुभव करते हो?'



अकबर ने कहा, 'सम्मान, प्रेम, आत्मीयता।' तब बीरबल ने कहा, 'महाराज, जैसे एक निर्जीव चित्र को देखकर आपके मन में प्रेम और सम्मान की भावना उत्पन्न होती है, वैसे ही जब एक भक्त आराधना करता है तो उसके मन के भाव से ईश्वर प्रसन्न होते हैं।'

जैसे यह शरीर पंचतत्त्वों से निर्मित है, वैसे ही प्रतिमा भी पंचतत्त्वों से निर्मित है। प्रतिमा प्रतिमा ही रहती है किन्तु प्रतिमा की आराधना ईश्वर को प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए किसी आदमी से तुम हाथ मिलाते हो। केवल हाथ मिलाने से वह आदमी प्रसन्न हो जाता है। होता है कि नहीं? तुमने केवल हाथ मिलाया, लेकिन प्रसन्न हुआ वह व्यक्ति जिसका हाथ तुमने मिलाया। इसी तरह तुम प्रतीक की उपासना करते हो, लेकिन प्रसन्न होता है वह व्यक्ति जिसकी उपासना हो रही है। उपासना या आराधना में जो तुम अर्पित कर रहे हो वह हमेशा ईश्वर को ही प्राप्त होता है, प्रतिमा को नहीं। जैसे एक लड़की किसी गुड़िया के साथ खेलते हुए उस गुड़िया के प्रति मातृत्व की भावना को अपने जीवन में ला सकती है, उसी प्रकार से एक भक्त भी प्रतिमा की उपासना करते हुए, उस पर अपने मन को एकाग्र करते हुए भक्ति की भावना को जागृत कर सकता है।

प्रतिमा-उपासना या मूर्ति-उपासना भारतीय दर्शन का मूल आधार रहा है, जिसके लिए समाज ने आज तक संघर्ष किया है। अनेकों बार आक्रमण हुए। अनेक जातियों ने भारतीय समाज पर आक्रमण किया और अनेकों बार कहा कि मूर्ति-उपासना बन्द होनी चाहिए। लेकिन भारतीय लोगों ने कहा, 'कैसे बन्द कर दें? इसी से तो हमारे जीवन में श्रद्धा और विश्वास पनपते हैं। इसी से तो हम अपने जीवन में ईश्वर से एक सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं। यह कैसे बन्द होगा?'

भक्ति भावना की जागृति साकार उपासना से ही होती है। उपासना का लक्ष्य होता है स्वयं को अपने आराध्य में लीन करना। जब तक मन को एक आधार नहीं मिलता तब तक वह एकाग्र कैसे होगा? तुम ध्यान करते हो तो श्वास पर ध्यान लगाते हो न? अगर श्वास पर ध्यान नहीं लगाओगे तो मन भटकेगा। मन को स्थिर करने के लिए श्वास, शरीर, प्रतीक या मंत्र पर ध्यान लगाते हो। एक आधार रहता है अपने मन को किसी बिन्दु में फँसाने के लिए, टिकाने के लिए, जोड़कर रखने के लिए। वह आधार है साकार। साकार की उपासना में भक्त उस प्रतीक में अपने आराध्य को एक जीवन्त रूप में देखता है। एक भक्त के लिए वह प्रतीक मात्र प्रतीक नहीं होता, बल्कि उसके भावों की अभिव्यक्ति है, और भावों की अभिव्यक्ति होने के कारण प्रतीक एक जीवन्त रूप ले लेता है। जैसे आप अपने पिता या गुरु के चित्र को देखकर उनके प्रति प्रेम और सम्मान का अनुभव करते हो, वैसे एक भक्त भी अपने आराध्य को प्रतीक में देखकर उसके प्रति प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, विश्वास और समर्पण को प्राप्त करता है। इस भाव को प्राप्त करने के लिए, आध्यात्मिक जीवन के उत्थान के लिए प्रतीक की उपासना आवश्यक है।

भक्ति का मूल प्रयोजन–आनन्द की खोज

भक्ति किसको कहते हैं? हर प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति सुख की खोज है। हम अपने व्यक्तिगत जीवन में सुख चाहते हैं, अपने पारिवारिक जीवन में सुख चाहते हैं, अपने सामाजिक जीवन में सुख चाहते हैं। सुख की खोज ही हर व्यक्ति का प्रयास है।

लोग यह भी मानते हैं कि सुख अथवा आनन्द मनुष्य का अपना स्वरूप होता है। अगर हम कहें कि तुम्हारा वास्तविक स्वरूप आनन्द का है तो तुम

कहोगे कि स्वामीजी दर्शन की बात कर रहे हैं। लेकिन जब तुम सुख की खोज करते हो, अपने जीवन में, अपने परिवार में, अपनी नौकरी में, अपने व्यवसाय में, अपने समाज में, तो किस लिए कर रहे हो? जब तुम्हें सुख की अनुभूति होगी तभी तुम्हारे जीवन में आनन्द और पूर्णता का अनुभव भी होगा। उसी पूर्णता के अनुभव के लिए सुख की खोज होती है जिसके लिए सभी प्रयत्नशील होते हैं।

आनन्द का केन्द्र-बिन्दु क्या है? आनन्द के केन्द्र-बिन्दु तक कैसे जाएँ ताकि जीवन में सुख की प्राप्ति हो? सुख-प्राप्ति की ओर जाने के लिए कौन-सा मार्ग है, कौन-से साधन हैं? इस प्रक्रिया में क्या गुरु की आवश्यकता होती है?

शास्त्रों में कहा गया है कि पूर्ण में ही सुख है, अपूर्ण में सुख नहीं होता। सुख उसी में होता है, जो पूर्ण है और जो अल्प है वह दुःखमय है। सुख सनातन है लेकिन दुःख अल्प और क्षणिक है। संसार के लोग कहते हैं कि सुख क्षणिक है और दुःख सनातन। पर शास्त्रों में कहा गया कि दुःख क्षणिक है और सुख सनातन।

मानसिक संकीर्णता ही हमारे दुःख का कारण बनती है। इसीलिए हम दुःख को जीवन का अंग मानते हैं और सुख को कुछ समय के लिए आया हुआ मेहमान। दुःख जीवन का साथी और सुख कुछ समय का मेहमान। लेकिन हमारे शास्त्र कहते हैं कि दुःख क्षणिक होता है और सुख सनातन। अगर लोग सुख से अपना नाता जोड़ें तो दुःख का आभास नहीं होगा। और अगर दुःख से नाता जोड़ेंगे तो सुख का आभास नहीं होगा।

गिलास में पानी रखकर पूछा जाता है कि गिलास में क्या है? लोग या तो कहते हैं कि गिलास आधा भरा है या आधा खाली है। जो कहे कि गिलास आधा खाली है वह गिलास में पानी के अभाव को देख रहा है। जो कहे कि गिलास आधा भरा है, वह अभाव को नहीं, उपलब्धि को देख रहा है। आप अपने जीवन में हमेशा अभाव को देखते हो, 'मेरे पास यह नहीं, मेरे पास वह नहीं।' आजमाकर देख लेना अपने घर में। अगर आप अपने नौकर या अपने बेटा-बेटी को पानी लाने के लिए कहो और वह थोड़ा-सा पानी आपको दे, तो आप कहोगे, 'इसको भरकर लाओ!'

मनुष्य जीवन में हमेशा अभाव को ही देखता है। पर अगर भाव आ जाए कि पानी मिल गया है, चाहे वह आधा ही क्यों न हो, तो अभाव की ओर ध्यान

नहीं जायेगा। बल्कि उपलब्धि को, प्राप्ति को देखोगे। संसार में दु:ख भी है और सुख भी, लेकिन भक्त दु:ख को क्षणिक और सुख को शाश्वत मानता है। यही एक साधक की पहचान है कि वह सांसारिक वैभवों का तिरस्कार करता है, उनके पीछे भागता नहीं, पागल नहीं होता, आकर्षित नहीं होता, उनसे अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ता, बल्कि भगवन्नाम के प्रकाश में नित्य आनन्द को प्राप्त करने के लिए कामना करता है। भगवन्नाम के प्रकाश में जब वह रहता है तब उस स्थिति को भक्ति कहते हैं। भक्ति की सरल व्याख्या यही है कि संसार को क्षणिक मानकर परमात्मा के प्रकाश में रहने का प्रयास करना।



भक्ति–सेवा और प्रेम की अभिव्यक्ति

संध्याकालीन सत्र, 4 जुलाई 2009

संसार में चार प्रकार के भक्त होते हैं–आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। जिज्ञासु और ज्ञानी जीवन में ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुभव करते हैं और उसी अनुभव के आधार पर आराधना भी करते हैं। आर्त या अर्थार्थी समस्याओं और संघर्षों से परेशान होकर ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उनके संकट दूर हो जाएँ और वे एक सुखमय, आनंदमय जीवन व्यतीत कर सकें, जिसके लिए इस संसार में जन्म लिया है। आर्त एवं अर्थार्थी के लिए शास्त्रों में साकार उपासना बतलायी है और जिज्ञासु एवं ज्ञानी के लिए निराकार उपासना। दोनों का ईश्वर के साथ सम्बन्ध अलग होता है। साकार में ईश्वर को एक निश्चित रूप में देखते हैं जबकि निराकार में परमात्मा को सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान रूप में देखते हैं।

सुख की खोज

जो सुख मनुष्य संसार में खोजता है, वह विषय-वस्तुओं से जुड़ा है। विषय-वस्तु से जुड़ा हुआ सुख क्षण-भंगुर होता है। जब तक विषय है, सुख है। जब विषय नहीं, सुख नहीं। आदमी चाहता है कि जीवन को सुखी बनाने के लिए संसार में जो कुछ उपलब्ध है वह उसके पास होना चाहिए। पर हमारे मनीषी कहते हैं कि जीवन के जिस सुख के पीछे तुम भाग रहे हो और जिस दुःख के निवारण का प्रयत्न कर रहे हो, वह क्षण मात्र का है। जिसको तुम दुःख मानते हो, वह क्षणिक है, बीत जाएगा। जिसको तुम सुख मानते हो, वह भी क्षणिक है। वह भी बीतेगा। सुख और दुःख संसार से ही प्राप्त होते हैं,

विषयों से प्राप्त होते हैं। लेकिन अगर शाश्वत सुख प्राप्त करना है तो फिर तुमको सुख के स्रोत की ओर जाना होगा।

ईश्वर का स्वरूप सुख का, आनन्द का, सत्य का और चैतन्यता का है। इसीलिए जीवन का उद्देश्य होता है संसार के समस्त कर्मों को करते हुए भी संसाराभिमुख नहीं, ईश्वराभिमुख होना। ईश्वराभिमुख होने का मतलब अपने जीवन में भक्ति को स्थान देना। जो व्यक्ति संसाराभिमुख है, संसार की ओर देखता है, संसार से तादात्म्य जोड़ता है, उसका लक्ष्य भोग होता है। लेकिन जो व्यक्ति स्वयं को परमात्मा से जोड़ता है उसका लक्ष्य भोग नहीं, बल्कि सुख, आनन्द और शान्ति होता है। परमात्मा को सुख का सागर कहा गया है, जिसको प्राप्त कर लेने के पश्चात् जीवन के समस्त दु:ख स्वत: समाप्त हो जाते हैं।

भक्ति का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

भक्ति, मन और चेतना की एक अवस्था है। जिस प्रकार भोग की आकांक्षा मन की एक स्थिति है, जैसे विषयों की आकांक्षा मन की एक वृत्ति है, उसी प्रकार जब मनुष्य स्वयं को ईश्वर से जोड़ना चाहता है, अच्छाई को अपनाना चाहता है, तामसिकता को त्यागना चाहता है, सत्त्व को अपनाना चाहता है,



तो उसके लिए मनुष्य को अपने साथ संघर्ष करना पड़ता है। यहाँ भक्ति का स्वरूप मनोवैज्ञानिक है। भक्ति को शास्त्रों में चित्त की एक वृत्ति माना गया है। योग में वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं–प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। ये पाँच वृत्तियाँ तमस्, रजस् और सत्त्व के प्रभावों से अन्य वृत्तियों को जन्म देती हैं, जो हमारे व्यवहार में प्रकट होती हैं।

योग शास्त्र में कहा है– *'वृत्तय: पंचतय्य: क्लिष्टाक्लिष्टा:'* अर्थात् प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति वृत्तियों में सुख और दु:ख, दोनों का अनुभव होता है। ये क्लिष्ट भी हैं और अक्लिष्ट भी। इनको पार करने के बाद एक अन्य वृत्ति का जन्म होता है, जिसे ब्राह्मी वृत्ति कहते हैं। यह ब्राह्मी वृत्ति ही मनुष्य के जीवन में भक्ति वृत्ति कहलाती है।

ज्ञान, कर्म और भावना वृत्ति

ब्रह्मसूत्र भाष्य में कहा है, *'मनस्त्वेकमनेक वृत्तिकं'* कि इस मन की अनेक वृत्तियाँ हैं, और भक्ति शास्त्र में इन वृत्तियों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है–ज्ञान की वृत्ति, भावना की वृत्ति और कर्म की वृत्ति। इन तीनों वृत्तियों में परस्पर सामंजस्य होता है। प्रधानता एक वृत्ति की होती है पर शेष दो का सहयोग और सामंजस्य उस प्रधान वृत्ति के साथ होता है। कभी ज्ञान प्रधान वृत्ति होती है, लेकिन उसमें भी भावना और कर्म का समावेश निश्चित रूप से होगा।

एक उदाहरण देता हूँ। अभी आप भक्ति विषय पर मेरी बात सुन रहे हैं। अभी आप में ज्ञान की वृत्ति प्रधान है। जैसा सुनते हैं, वैसी एक भावना प्रकट होती है। इस तरह भावना की वृत्ति का भी सहयोग है। और जैसा करने को कहूँ, अगर वैसा करें तो कर्म वृत्ति का भी सहयोग रहता है। ज्ञान की वृत्ति प्रधान है, लेकिन उसमें भावना और कर्म की वृत्तियों का भी सहयोग है।

एक खिलाड़ी फुटबॉल लेकर दौड़ रहा है। उस समय कर्म वृत्ति प्रधान है। लेकिन उस कर्म वृत्ति के साथ ज्ञान वृत्ति भी है, क्योंकि खिलाड़ी को पता है कि गोल कहाँ है। सभी बाधाओं को पार करते हुए गोल की तरफ जाना है और गोल करना है। यहाँ कर्मवृत्ति को ज्ञान की वृत्ति सहयोग दे रही है। ज्ञान वृत्ति के द्वारा क्रियावृत्ति को एक लक्ष्य मिल रहा है। और जब खिलाड़ी गोल करता है तो उसकी भावना वृत्ति जाग्रत होती है। वह प्रफुल्लित हो जाता है कि मैंने गोल किया, एक प्वाइंट जीता।

चाहे तुम सत्संग सुनो या फुटबॉल खेलो, तुम्हारे भीतर एक वृत्ति अधिक प्रबल रहेगी और शेष दो वृत्तियों का साथ रहेगा। लेकिन भक्ति शास्त्र में भावना वृत्ति का महत्त्व है। *'जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत तिन देखी तैसी'*–जिसकी जैसी भावना रहती है, वैसे ही वह प्रभु के रूप को देखने में सक्षम होता है।

भावना वृत्ति से शरीर में कंपन होने लगता है, रोमांच होने लगता है। कंपन और रोमांच भावना वृत्ति की शारीरिक अभिव्यक्तियाँ हैं। जब भावना से हृदय द्रवित हो जाता है, आँखों से आँसू निकलने लगते हैं, तो यह भाव-वृत्ति की क्रिया-वृत्ति है। भाव वृत्ति में रस भी होता है। भाव-वृत्ति में रस के अनुभव से मनुष्य श्रद्धा को, प्रेम को प्राप्त करता है। अगर भाव-वृत्ति में रस का अभाव हो, तो भक्ति भावना नहीं जागेगी; श्रद्धा, प्रेम और संवेदनशीलता का विकास नहीं होगा। इस प्रकार भाव-वृत्ति का एक अन्य रूप हो जाता है रसात्मक, जिसमें प्रेम, श्रद्धा, विश्वास आदि स्वत: उपजते हैं।

भाव-वृत्ति का एक रूप आवेशात्मक भी होता है। आवेश का आ जाना। आवेश कभी भय का रूप लेता है, कभी क्रोध का, तो कभी अवसाद का। कभी अन्तर्मुखता का रूप लेता है तो कभी बहिर्मुखता का। आवेशात्मक अवस्थाओं में मनुष्य पागल की तरह बर्ताव करता है। भक्ति में संयम की आवश्यकता होती है, क्योंकि आवेशात्मक वृत्ति को प्राप्त करना भक्ति का उद्देश्य नहीं है। रागात्मक वृत्ति को प्राप्त करना भक्ति का उद्देश्य नहीं है। भक्ति का उद्देश्य है स्वयं को आनन्द के स्रोत से एकाकार कर देना।

दर्शन, श्रवण और चिन्तन

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्राह्मी वृत्ति को जन्म लेना है। तुम चित्त के स्वभाव को अच्छी तरह से जानते हो। चित्त जिस विषय का दर्शन करता है, जिसका श्रवण करता है, जिसका चिन्तन करता है, उससे तदाकार हो जाता है। अगर किसी अच्छी वस्तु को देखोगे तो चित्त उससे एकाकार हो जाएगा। अगर किसी घृणित वस्तु को देखोगे तो चित्त उससे भी एक होगा। अगर अच्छे शब्दों को सुनोगे तो चित्त उन शब्दों से एक होगा। अगर बुरे शब्दों को सुनोगे तो चित्त उन बुरे शब्दों से प्रभावित होगा। दर्शन से, श्रवण से और अनुभव से जो कुछ भी चित्त प्राप्त करता है, वह मनुष्य जीवन का अभिन्न अंग हो जाता है।

श्रवण मनुष्य की एक मौलिक वृत्ति है। अगर मैं कहूँ कि आप अच्छे आदमी हैं तो आप बहुत प्रसन्न हो जाएँगे, प्रफुल्लित हो जाएँगे। अगर मैं कहूँ कि आप खराब हैं तो आप नाराज हो जाएँगे। केवल श्रवण से ही। मैं जो कह रहा हूँ उससे आपका मन एकाकार हो गया और उसके अनुरूप आप प्रतिक्रिया करते हो। अगर पागल कहें तो पागल की तरह प्रतिक्रिया करोगे और अच्छा कहें तो अच्छे की तरह प्रतिक्रिया करोगे। श्रवण, मनन और दर्शन मात्र से प्रतिक्रिया होगी। फूल को देखते हो, आकर्षित होते हो। टट्टी को देखते हो, भागते हो। ऐसा क्यों होता है? जो देखते हो उसके साथ चित्त एकाकार हो जाता है। एकाकार होने पर या तो उसको स्वीकार करेगा या अस्वीकार।

दृष्टि को टिकाने के लिए स्वरूप की आवश्यकता होती है, श्रवण के लिए शब्द और ज्ञान की आवश्यकता होती है, मनन के लिए अनुभव की आवश्यकता होती है। जब तक अनुभव नहीं, मनन नहीं। मनन और अनुभव एक दूसरे के पूरक हैं। मनन करोगे, चिन्तन करोगे, विचार करोगे तभी जाकर आगे अनुभव प्राप्त कर पाओगे। अगर चिन्तन नहीं, प्रयास नहीं, मनन नहीं तो कौन-सा अनुभव? इसीलिए भक्ति में एक आराध्य, एक मंत्र और एक स्मृति की आवश्यकता होती है। आराध्य को जिस रूप में तुम अपनाना चाहो, देखना चाहो, देखो। धरती में देखो, आकाश में देखो, मूर्ति में देखो, कण-कण में देखो, चित्त में देखो, अपने में देखो, श्वास में देखो, दूसरों में देखो, जहाँ भी देखना चाहो, जिस रूप में भी देखना चाहो, देखो। और जिस रूप में तुम देखते हो वह तुम्हारे लिए आराध्य का साकार रूप है।

जो सुनते हो, अच्छा सुनो। उससे मन परिवर्तित होगा। किसी की निन्दा सुनोगे, किसी की स्तुति सुनोगे, इसमें समय ही बर्बाद होगा। आलोचना-प्रत्यालोचना में, गप-शप में मनुष्य कुछ प्राप्त नहीं करता, बल्कि अपने मन की संवेदनशीलता को कम करता है। समझने की क्षमता बाधित हो जाती है, दूसरों के कहने के आधार पर हम अपने विचार बनाने लगते हैं। दूसरों के निर्णय से हम अपना निर्णय लेने लगते हैं। गप-शप में, निन्दा-स्तुति में, घृणा-प्रेम में, ईर्ष्या-द्वेष में, वासना-कामना में, अपनी संवेदनशीलता, अपना विवेक बाधित हो जाता है। लेकिन जब कुछ ऐसा सुनते हैं जो हमें आंतरिक सुख-शान्ति प्रदान करता है और हमारे जीवन के लिए एक लक्ष्य निश्चित करता है, तब वह मानसिक और भावनात्मक एकाग्रता का प्रतीक है।

भक्ति में कहा है कि श्रवण, मनन और दर्शन, ये तीन मुख्य आधार हैं, इन्हीं के माध्यम से मनुष्य इस संसार में रहकर अपना कार्य सम्पन्न करता है। जब भगवान के श्रवण-मनन से आकर्षित चित्त की वृत्ति भगवान की ओर प्रवाहित होने लगती है, तब उस प्रवाह को कहते हैं–भक्ति। जब तक चित्त की वृत्ति ईश्वर की ओर प्रवाहित नहीं होती, भक्ति नहीं है। जब तुम्हारे चित्त की सभी वृत्तियाँ, श्रवण और मनन से ईश्वर का स्मरण करती हैं तब भक्ति भावना प्रकट होती है।

भक्ति की परिभाषा–सेवा और प्रेम

भक्ति का वास्तविक मतलब क्या होता है? संस्कृत के *'भज् सेवायाम्'* धातु से भक्ति शब्द की उत्पत्ति होती है। जब *भज्* धातु में *क्तिन्* प्रत्यय लगता है तो भक्ति शब्द का निर्माण होता है। *क्तिन्* का अर्थ होता है प्रेम। और मूल *भज्* धातु का अर्थ है सेवा। जहाँ पर मनुष्य दूसरे से जुड़े और जहाँ पर प्रेम हो, वही भक्ति है। यह हमारे शास्त्रों का वचन है। ईश्वर की आराधना को, ईश्वर के चिन्तन को, मंत्र-जप को भक्ति नहीं कहा गया, बल्कि भक्ति का साधन माना गया। चिन्तन-मनन मात्र एक साधन है, मंत्र-जप मात्र एक साधन है, आराधना-पूजा मात्र एक साधन है। भक्ति की परिभाषा है जीवन का व्यवहार, जिसमें तुम अपने भीतर प्रेम का अनुभव करते हो, जिससे दूसरों को सुख मिलता है। *भज् सेवायाम्* धातु और *क्तिन्* प्रत्यय, अर्थात् सेवा और प्रेम–जीवन के यही दो व्यवहार भक्ति के प्रतीक माने गये हैं।

जिसके जीवन में सेवा और प्रेम की भावना जागृत है, वह भक्त कहलाता है। यह प्रेम निष्कपट होना चाहिए। इसमें कोई कपट नहीं, कोई अपेक्षा नहीं, शुद्ध प्रेम। तभी जाकर भक्ति सधती है। सामान्य रूप से तुम जिस प्रेम का अनुभव अपने जीवन में करते हो, वह या तो अपनी सन्तान के लिए करते हो, या धन-सम्पत्ति के लिए करते हो, या शान्ति के लिए करते हो। या फिर पति-पत्नी-मित्र आदि के सम्बन्धों को ही प्रेम कह देते हो। शास्त्रों में ऐसा नहीं कहा गया। महर्षि शाण्डिल्य का कहना है कि ईश्वर के प्रति परम अनुराग ही भक्ति है।

परम अनुराग में प्रेम की भावना और सेवा की क्रिया, दोनों का समावेश हो रहा है। साथ में ज्ञान भी है कि मैं भगवान का कार्य कर रहा हूँ। इन तीनों का योग हो रहा है। मैं ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य कर रहा हूँ, वह ज्ञान

है। मैं अपने लिए नहीं, दूसरों के सुख के लिए कर रहा हूँ, वह सेवा है। और मैं सभी से प्रेम करता हूँ, मेरा प्रेम व्यापक हो गया है, वह परम प्रेम है। ये भक्ति के तीन रूप हैं जो एक होकर भक्ति का निर्माण करते हैं, भक्ति को प्रकट करते हैं। भक्ति की जो व्याख्या हमारे परम गुरु स्वामी शिवानन्द जी ने की, और जिस व्याख्या को हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी ने आगे बढ़ाया है, वह यही है। सेवा, प्रेम और ज्ञान के रूप में भक्ति का यही परिचय है।



भक्ति में पदार्पण

प्रात:कालीन सत्र, 5 जुलाई 2009

शास्त्रों में कहा गया है कि भक्ति मन की एक वृत्ति है। यह वृत्ति सत्त्व-गुण-सम्पन्न है। जिस प्रकार काम, क्रोध, लोभ और मोह मन की वृत्तियाँ हैं, उसी प्रकार भक्ति भावना भी मन की एक वृत्ति है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में श्री शंकराचार्य मन के बारे में कहते हैं- *'मनस्त्वेकमनेक वृत्तिकं'*, अर्थात् मन के भीतर अनेक वृत्तियाँ जन्म लेती हैं। इनमें से कुछ वृत्तियाँ इन्द्रियों से सम्बन्ध रखती हैं, कुछ भावना से और कुछ बुद्धि एवं ज्ञान से। जब मन में इन्द्रिय-वृत्ति प्रबल होती है, तब इन्द्रियाँ जागृत होती हैं, ज्ञान-वृत्ति की प्रबलता में ज्ञान शक्ति काम करती है और भाव-वृत्ति की प्रबलता में भावना काम करती है।

हमारे परमगुरु स्वामी शिवानन्द जी इसे दूसरे तरीके से समझाते थे कि मनुष्य के मस्तिष्क, हृदय और हाथ के द्वारा ही जीवन के समस्त कर्म सम्पादित होते हैं। मस्तिष्क मतलब बुद्धि, हृदय मतलब भावना, और हाथ मतलब इन्द्रिय-क्षमता। जैसे-जैसे हमारी भावना संसार की ओर प्रवाहित होती है, हम भोग और मोह में लिप्त होते हैं। जैसे-जैसे हमारी भावना संसार से विमुख होकर अपने अंतर में लीन होती है, हमारी भक्ति बढ़ती है। जब भावना संसार की ओर जाए तो भोग है और जब भावना अन्दर की ओर मुड़े तो भक्ति है।

वेदों में कहा गया है– *'समुद्रं न स्त्रवत: सप्त यह्वी:।'* जैसे सातों नदियाँ समुद्र की ओर जाकर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही मन की बहिर्मुखी वृत्तियाँ जब अन्दर की ओर मुड़ती हैं, परमात्मा से जुड़ती हैं, उनका भी अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वे परमात्ममय, भक्तिमय और ईश्वरमय हो

जाती हैं। हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं कि भावनाओं का अपने आराध्य की ओर दिशान्तरण ही भक्ति योग है।

सेवा और प्रेम

भक्ति को सामान्य रूप से लोग आराधना मानते हैं। पर भक्ति मात्र वह नहीं है। जब भक्ति को चित्त की वृत्ति कहा गया, तो उसका क्या मतलब होता है? शास्त्रों में भक्ति की उत्पत्ति *भज् सेवायाम्* धातु से बताई है, जिसमें *क्तिन्* प्रत्यय लगकर भक्ति शब्द बनता है। *भज् सेवायाम्* धातु का अर्थ होता है सेवा करना, और *क्तिन्* प्रत्यय का अर्थ होता है प्रेम करना। इसलिए भक्ति की परिभाषा और व्याख्या है–सेवा और प्रेम। आराधना, उपासना, पूजा सब विधियाँ मात्र हैं।

सेवा और प्रेम का वास्तविक अर्थ क्या होता है? सेवा का मतलब होता है दूसरे के हित में काम करना। जिस क्रिया से दूसरे को सुख मिले, दूसरे का कल्याण हो, दूसरे के जीवन का अभाव दूर हो, वह सेवा है। जो हम अपने लिए कर रहे हैं, जो हम अपने लिए चाहते हैं, वह सेवा नहीं, कर्म है। जब हमारी भावना दूसरों से जुड़ती है तब क्रिया कर्म नहीं, सेवा कहलाती है। दूसरों के सुख और उत्थान के लिए जो प्रयास हो, वही सेवा है और वही भक्ति का प्रथम अध्याय है।

प्रथम चरण है *भज् सेवायाम्* और फिर इस धातु में *क्तिन्* प्रत्यय लगता है, जिसका अर्थ होता है प्रेम। जब तुम संसार में सभी से स्नेह करने लगो, जब तुम अपनत्व की भावना को जागृत कर सको, तब वह प्रेम की अवस्था है। जैसे सेवा भक्ति का प्रथम चरण है, वैसे प्रेम भक्ति का द्वितीय चरण है। दोनों के योग से भक्ति बनती है।

नारद तथा शाण्डिल्य भक्ति सूत्र

भक्ति शास्त्र में दो प्रमुख ग्रन्थ हैं, एक ऋषि नारद के भक्ति सूत्र और दूसरा ऋषि शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र। नारद ऋषि ने भाव-प्रधान भक्ति समझाई है और शाण्डिल्य ऋषि ने ज्ञान-प्रधान। ज्ञान-प्रधान भक्ति में मनुष्य अपने या दूसरों के लिए कुछ याचना नहीं करता, केवल ईश्वर सान्निध्य को प्राप्त करना चाहता है। भाव-प्रधान भक्ति में मनुष्य प्रार्थना करता है, कामना करता है कि मेरे जीवन के दु:ख और अभाव दूर हो जाएँ। इसलिए ज्ञान-प्रधान भक्ति को



निराकर भक्ति माना गया है और भाव-प्रधान भक्ति को साकार। नारद भक्ति सूत्रों में भाव-प्रधान भक्ति का और शाण्डिल्य भक्ति सूत्रों में ज्ञान-प्रधान भक्ति का वर्णन है।

ऋषि नारद कहते हैं कि परमेश्वर के प्रति परम प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। ऋषि शाण्डिल्य कहते हैं कि ईश्वर के प्रति अनुराग और आकर्षण ही भक्ति है। दोनों की भक्ति व्याख्या में प्रेम और अनुराग दिखलाई देता है। ऋषि नारद के अनुसार जो व्यक्ति सम्पूर्ण इन्द्रियों को माया के बन्धन से मुक्त करके अनन्य भाव से ईश्वर की आराधना करता है, वही भक्त है। नारद जी आगे कहते हैं कि पहले अपनी इन्द्रियों और मन को माया के बन्धन से मुक्त करो। माया का बन्धन सुख और दुःख है। जिसके प्रति आकर्षित होते हैं, उससे सुख की कामना होती है और जिसके प्रति विकर्षण होता है, उससे दूर जाना चाहते हैं। योगसूत्र में कहा गया है–'*सुखानुशयी रागः*'। जिससे सुख की प्राप्ति होती है, मनुष्य उसमें आसक्त हो जाता है। साथ ही कहा है, '*दुःखानुशयी द्वेषः*'–जिस विषय, कर्म, आचरण या मनुष्य से दुःख की प्राप्ति हो, उससे हमेशा विकर्षण होता है, हमेशा उससे दूर भागा जाता है।

हर व्यक्ति दु:ख से दूर भागता है और सुख की कामना करता है। जिस सुख की कामना हम सब अपने जीवन में करते हैं, वह भौतिक सुख है। आत्मिक, आध्यात्मिक, अनन्य सुख की प्राप्ति तभी होती है, जब भौतिक-सुख की कामना का बीज हमारे मन में नष्ट हो जाता है और परमात्म-प्रेम का बीज हमारे हृदय में अंकुरित होता है। इसी के बारे में हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं कि अपने भीतर आत्मभाव को जागृत करके परमात्म-प्रेम को प्राप्त करो। मन अभी विषयों से तदाकार है, आत्मा से नहीं। तदाकार का मतलब क्या? अगर हम किसी घड़े में पानी भर देते हैं तो पानी घड़े की आकृति में ही अपने आपको ढाल देता है। जब तक पानी घड़े में है, घड़े या पात्र के आकार को ही प्राप्त करेगा। घड़े को तोड़ दो, पानी आकार से मुक्त हो जाएगा।

उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी संसार के विषयों में रमकर, संसार के विषयों के रूप और आकार को धारण कर लेती हैं। भक्ति शास्त्र में कहा है कि जो हम देखते हैं, जो हम सुनते हैं, और जिसका हम मनन करते हैं, उसके द्वारा मन उसी आकार को ग्रहण करता है। आप एक सुन्दर, आकर्षक वस्तु को देखते हैं। जिस वस्तु को आपने आँखों से देखा, वह बाहर है, आप से भिन्न है। लेकिन जब उस सुन्दर, मनमोहक वस्तु को देखा तब उसकी एक छवि मन में अंकित हो जाती है। उस समय मन और वस्तु दोनों एक हैं, तदाकार हैं। दोनों के एक होने पर एक भावना, एक इच्छा, एक विचार प्रकट होता है, 'मैं इसकी कामना करता हूँ, मैं इसको प्राप्त करना चाहता हूँ, मैं इसको अपना साथ रखना चाहता हूँ।' यह है आकर्षण, यह है राग, यह है आसक्ति, यह है सुख और तृप्ति की कामना।

इसका उल्टा भी है। अगर किसी घृणित वस्तु को देखोगे तो घृणित वस्तु मन से तदाकार हो जाती है। उसका परिणाम है कि घृणा के कारण आप उसको हटा देते हो, उससे दूर होते हो। द्वेष के कारण हम जिस दु:खदाई वस्तु को अपने मन से हटा देते हैं, वह है विरक्ति। और आकर्षण के कारण जिसको हम प्राप्त करना चाहते हैं वह है आसक्ति।

शिवानन्द योग – भक्ति की अभिव्यक्ति

अगर यह मानें कि सेवा और प्रेम भक्ति के प्रथम और द्वितीय चरण हैं, तो एक और बिन्दु की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। हमारे परमगुरु स्वामी शिवानन्द जी ने योग की शिक्षा सबको दी। हठयोग सिखाया, राजयोग

सिखाया, कर्मयोग सिखाया, ज्ञानयोग सिखाया, भक्तियोग सिखाया, सब कुछ सिखाया। अपने शिष्यों से कहा कि तुम पूरे विश्व में फैलकर योग और अध्यात्म का प्रचार करो। जब आध्यात्मिक जीवन के क्रम का उन्होंने वर्णन किया, तो उसको भी आठ अंगों में किया। हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं कि शिवानन्द जी का योग पतंजलि के योग की समाप्ति पर प्रारम्भ होता है। जब यम कर लेते हो, नियम कर लेते हो, आसन कर लेते हो, प्राणायाम कर लेते हो, प्रत्याहार कर लेते हो, धारणा कर लेते हो, ध्यान कर लेते हो, समाधि प्राप्त कर लेते हो, यहाँ पर पतंजलि का योग समाप्त हो जाता है। यहाँ तक तुम स्वयं को शुद्ध, संयमित, अनुशासित और जागृत करने का प्रयास कर रहे हो। तुम्हारा यह प्रयास अपने तक ही सीमित है। तुम समाधि की अवस्था भी अगर प्राप्त करते हो, उससे किसी दूसरे का कल्याण नहीं होता, मात्र तुम्हारा कल्याण होता है।

स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं कि जब महर्षि पतंजलि का मनोयोग सिद्ध हो जाए, जब महर्षि स्वात्माराम और घेरण्ड का शरीर-योग सिद्ध हो जाए, तब शिवानन्द योग आरम्भ होता है। शिवानन्द योग के प्रथम दो चरण कौन-से हैं? पहले चरण में है सेवा, दूसरे में है प्रेम। सेवा और प्रेम, यह तो भक्ति की ही अवधारणा है। स्वामी शिवानन्द जी का योग भक्ति से शुरू होता है। जब जीवन में सेवा और प्रेम दोनों प्रबल हो जाते हैं, तब चित्तवृत्ति भगवान के चिन्तन और स्मरण से एकाकार हो जाती है। भक्त भगवान के स्वरूप को, भगवान की विभूति को अपने भीतर अनुभव करता है, धारण करता है। इसलिए भक्ति की परिभाषा सेवा और प्रेम है।

प्रेम की व्याख्या

प्रेम को कैसे समझा जा सकता है? एक शब्द है इश्क, जिसका मतलब होता है प्रेम। इस प्रेम की उत्पत्ति के दो केन्द्र हैं–इश्क मजाजी और इश्क हकीकी। इश्क हकीकी हृदय से प्रेरित है और इश्क मजाजी दिमाग से। दोनों प्रेम हैं, लेकिन एक प्रेरित होता है हृदय से और दूसरा प्रेरित होता है दिमाग से। सभी ने अपने जीवन में जिस प्रेम का अनुभव किया है वह दिमाग का प्रेम है, उस प्रेम में स्वार्थ छिपा है, महत्त्वाकांक्षाएँ छिपी हैं। हम किसी से कुछ-न-कुछ कामना करते हैं, चाहे वह पति-पत्नी का प्रेम हो, चाहे सन्तान-अभिभावक का प्रेम हो, चाहे मित्रों का आपसी प्रेम हो, चाहे युवक-युवती का प्रेम हो। लेकिन

जो प्रेम हृदय से फूटे, वह पवित्र होता है। उसमें कोई कामना नहीं, कोई इच्छा नहीं, कोई वासना नहीं रहती। मात्र यही इच्छा होती है कि अपने आराध्य के प्रति मेरा अनुराग, मेरा प्रेम अनवरत बढ़ता रहे, बढ़ता रहे, बढ़ता रहे।

स्वामी शिवानन्द जी ने कहा है कि प्रेम चार प्रकार का होता है। प्रेम की प्रथम अभिव्यक्ति संवेदनशील हृदय है। प्रेम की दूसरी अभिव्यक्ति है, हर्षयुक्त स्नेह। प्रेम की तीसरी अभिव्यक्ति है, प्रकाशित प्रेम और चौथी अभिव्यक्ति है, ज्वलन्त तन्मयता। प्रेम की अभिव्यक्तियाँ जैसे भौतिक जगत् में होती हैं, वैसे ही ईश्वर के साथ भी सम्पन्न होती हैं। भौतिक जगत् में जिससे प्रेम करते हैं, उसके प्रति संवेदनशीलता प्रकट होती है, एक सम्बन्ध जागृत होता है, स्नेह की उत्पत्ति होती है और वह भावना क्रमशः प्रगाढ़ होती जाती है। अन्त में वह भावना प्रेम का रूप ले लेती है। प्रेम अग्नि की ज्वाला के रूप में प्रकट होता है और तब संसार के सभी द्वेष उस प्रेम की ज्वाला में जलकर भस्म हो जाते हैं।

प्रेम एक अभिव्यक्ति है जो मनुष्य को उसके आराध्य के साथ, ईश्वर के साथ जोड़ती है। जीवन के अंधकारपूर्ण क्षितिज में प्रेम ही एक सुन्दर इन्द्रधनुष है। वही जीवन में एक अटल और अडिग ध्रुव-तारा भी है। प्रेम ही साहित्य, कला, संगीत, दर्शन और देशप्रेम की जननी है। अगर प्रेम न हो तो साहित्य नहीं, संगीत नहीं, कला नहीं, दर्शन नहीं और राष्ट्र-प्रेम भी नहीं। प्रेम एक ऐसी ऊर्जा है, एक ऐसी शक्ति है जिसे जागृत करके मनुष्य अपने जीवन में पूर्णता का अनुभव कर सकता है। प्रेम हृदय की सुरभि है, जिसके अभाव में मनुष्य पशु समान है।

ईश्वर के प्रति परम प्रेम को, परम अनुराग को भक्ति कहते हैं। श्रवण के द्वारा तुम जो जान पाते हो, दर्शन के द्वारा तुम जो देख पाते हो और मनन के द्वारा तुम जिसका चिन्तन कर पाते हो, अगर मन उससे एकाकार हो जाए तब प्रेम की भावना जागृत होती है। यह मनुष्य के जीवन में भक्ति की शुरुआत है। लाख कठोर होता है, लेकिन पिघलकर वह तरल बन जाता है और सूखने पर फिर कठोर हो जाता है। लाख को पिघलाते समय उसमें कोई भी रंग डाल दो, लाख उस रंग को ग्रहण कर लेगा। कठोर होने पर भी वह उस रंग को नहीं छोड़ेगा। उसी प्रकार भक्ति में पहले भाव द्रवित होता है और द्रवित भाव में जब तुम भक्ति का रंग घोलते हो तब भक्ति का वह रंग उस द्रवित भाव में हमेशा के लिए व्याप्त हो जाता है।

इसी को श्री स्वामीजी दूसरे तरीके से समझाते हैं। वे उदाहरण देते हैं स्फटिक पत्थर का, जिसका अपना कोई रंग नहीं होता। स्फटिक पत्थर को तुम जिस रंग के ऊपर रख दो, वही रंग उसमें दिखलायी देता है। अगर काले रंग के ऊपर रखोगे तो स्फटिक काला दिखलायी देगा, पीले के ऊपर रखोगे तो पीला दिखलायी देगा, सफेद के ऊपर रखोगे तो सफेद दिखलायी देगा। जिस भी रंग पर तुम पारदर्शी स्फटिक पत्थर को रख दो, स्फटिक में वही रंग दिखलायी देगा। वैसे ही मन है। मन जब विषय से तदाकार होता है, तब विषय का रंग मन में दिखलायी देता है। भक्ति में अपना कोई रंग नहीं है। वह पारदर्शी है, निर्मल है, पवित्र है।

भक्ति की विधियाँ

हमारे शास्त्रों में भक्ति को सिद्ध करने की विधियों के बारे में कहा है– *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं*। परमात्मा के नामों का श्रवण करो और उनका स्मरण कर जीवों की सेवा करो। अपने मन को चिन्ता मुक्त करके ईश्वर का स्मरण करो। चिन्ता जीवों की स्वाभाविक वृत्ति है। शादी नहीं हो तो भी चिन्ता, हो जाए तो भी चिन्ता। बच्चा नहीं हो तो भी चिन्ता, हो जाए तो भी चिन्ता। नौकरी नहीं हो तो भी चिन्ता, हो जाए तो भी चिन्ता। परिवार नहीं है तो भी चिन्ता, हो जाए तो भी चिन्ता। मनुष्य कभी चिन्ता से मुक्त नहीं होता है और वह चिन्तन हमेशा सांसारिक विषयों से जुड़ा होता है। रात को सोता है तो उसी चिन्तन को स्वप्न में देखता है। सोचता है तो बार-बार मन के सामने वही चीज आती है।

एक विचार तुम्हारे मन में बस जाए तो रात को तुम्हारी नींद चौपट हो जाती है। एक विचार तुम्हारे मन में बस जाए तो तुम दुःख को झेल नहीं पाते हो। एक विचार तुम्हारे मन में बस जाए तो तुम अत्यधिक आनन्द की कल्पना करने लगते हो। ये संसार के विषयों से जुड़े विचारों के प्रभाव हैं। अगर तुम अपने विचार को भगवान से जोड़ दोगे और तुम्हारा ध्यान ईश्वर के प्रति आकृष्ट होगा, बार-बार उनका चिन्तन-स्मरण होगा, जैसे अपने बेटा-बेटी या पति-पत्नी का होता है, तब वे तुम्हारे विचारों को अपनी ओर खींच लेंगे।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं, अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्– यह भक्ति की परम्परा है। इसको हमारे मनीषियों ने जितना सहज बनाया उतना ही मनोवैज्ञानिक भी बनाया है। लोग सोचते हैं कि भक्ति



सरल है, कुछ करना नहीं है, केवल भगवान का ही ख्याल करना है। हाँ, भक्ति में कुछ करना नहीं है, केवल परमात्मा का ही ख्याल करना है, और इस ख्याल में ही तुमको जो अनुभव होता है, वह भक्ति की शुरुआत है। भक्ति का अर्थ परमेश्वर से जुड़ा हुआ प्रेम है। भक्त उस प्रेम को श्रवण के द्वारा, कीर्तन के द्वारा, स्मरण के द्वारा, पाद सेवन के द्वारा, अर्चन के द्वारा, वन्दन के द्वारा, दास्य भाव के द्वारा, साख्य भाव के द्वारा और आत्म-निवेदन के द्वारा चरितार्थ करता है। ये विधियाँ मन को उसी रूप में ढालती हैं।

श्रीमद् देवीभागवत में कहा है कि मोक्ष-प्राप्ति के तीन मार्ग विख्यात हैं। एक मार्ग कर्म योग का है, दूसरा ज्ञान योग का और तीसरा भक्ति योग का। इन तीनों में भक्ति योग सहज और सरल है। इसमें मन को बस अपने आराध्य

के साथ जोड़ना है। ज्ञान योग कठिन है, इसमें विचारों को पकड़कर रखना पड़ता है। जैसे घोड़े को नियंत्रण में रखने के लिए लगाम की आवश्यकता होती है, जैसे हाथी को वश में रखने के लिए अंकुश की आवश्यकता होती है, वैसे ही इन्द्रियों को वश में रखने के लिए, मन की विक्षिप्तता को वश में रखने के लिए कर्म योग और ज्ञान योग की आवश्यकता होती है।

भक्ति में मन के टॉर्चलाइट को संसार से घुमाकर ईश्वराभिमुख कर देना है। भक्ति योग अनायास प्राप्त होता है और मनोवृत्ति के द्वारा ही इसको प्राप्त किया जाता है, ऐसा श्रीमद् देवीभागवत में कहा गया है। श्रीमद् देवीभागवत में एक बात और है कि कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म, व्रत, तीर्थयात्रा, आदि साधनों के द्वारा जो फल प्राप्त होता है, भक्त भक्ति योग के द्वारा उसे अनायास ही प्राप्त कर लेता है।

परा और अपरा भक्ति

पारम्परिक रूप से भक्ति को दो श्रेणियों में बाँटा गया है। जो भक्ति ईश्वर तथा भक्त के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है, उसे परा भक्ति कहा गया है, और जो विषयों, कामनाओं या परिस्थितियों से प्रभावित होती है उसको अपरा भक्ति कहा है। अपरा भक्ति सांसारिक है, परा भक्ति आध्यात्मिक। अपरा भक्ति में मनुष्य अपने सुख के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। परा भक्ति में भक्त इस नश्वर शरीर में अनश्वर आत्मा को जानने का, उसका अनुभव प्राप्त करने का प्रयास करता है। अपरा और परा, भौतिक और दैविक– शास्त्रों में भक्ति के ये दो स्वरूप बतलाये गये हैं।

अपरा भक्ति में कर्म की आवश्यकता रहती है। कौन-सा मन्त्र सबेरे करना चाहिए, कौन-सा मन्त्र दोपहर को करना चाहिए, कौन-सा मन्त्र शाम को करना चाहिए, अनुष्ठान का क्या नियम होता है, पूजा का क्या नियम होता है, इन्हीं नियमों से भक्त का आचरण संचालित होता है। लेकिन परा भक्ति में किसी कर्म की आवश्यकता नहीं होती, मात्र आत्मिक अन्वेषण होता है।

आप लोगों ने स्वामी शिवानन्द जी की एक जीवन-घटना सुनी थी, जिसमें वे स्वयं कहते हैं कि मैंने तो औपचारिक रूप से कभी देवी की आराधना की ही नहीं, लेकिन हाँ, प्रतिदिन उठकर मैं देवी के मन्त्रों को जप लेता था। प्रतिदिन मैं महिलाओं से मिलता तो मन-ही-मन नतमस्तक होकर कहता था, *ॐ दुर्गायै नमः*। जब स्वामी शिवानन्द जी के जीवन में कोई

कामना थी ही नहीं, तो क्या चाहेंगे वे अपने लिए? किस कष्ट से, किस दु:ख से निवृत्ति चाहेंगे? किस समस्या का निदान चाहेंगे? उनके लिए भक्ति का स्वरूप परा था। *सीयराममय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी*– सम्पूर्ण जगत् में, सम्पूर्ण जीवों में जो ईश्वर को देखता है, उसको मन्दिर में जाकर घण्टी बजाने की क्या आवश्यकता होगी? जिसका जीवन ईश्वरमय हो चुका है और विषय जिसको स्पर्श तक नहीं कर सकते, ऐसे भक्त को अपरा भक्ति की साधना की आवश्यकता क्यों होगी? ऐसी साधना की आवश्यकता तो उन लोगों के लिए है जो अपने को संसार से मुक्त नहीं कर पा रहे हैं। जो संसार से मुक्त हो गया, उसको फिर कर्मकाण्ड से क्या लेना-देना? वह तो उसी अवस्था में, उसी मानसिक स्थिति में हमेशा रमण करता रहता है और उसी व्यक्ति को सिद्ध कहते हैं।

परा भक्ति को उच्च भक्ति और अपरा को भौतिक माना है। इनमें कौन श्रेष्ठ है और कौन निकृष्ट, सवाल नहीं उठना चाहिए। हम लोगों के लिए अपरा आवश्यक है, हमारी पहुँच इन्द्रियों तक, वासनाओं तक ही सीमित है। हम एक व्यापक दृष्टिकोण को नहीं अपना पाये हैं। हम लोगों के लिए अपरा भक्ति प्रवेशिका है और परा भक्ति उपलब्धि। यही क्रम है जिससे सबको जाना है। इस क्रम में मन को मोड़ने का प्रयास होता है। अपरा भक्ति से भक्त का अन्त:करण एकाग्र, शुद्ध और निर्मल होता है। इसके लिए व्यक्ति को अपनी दिनचर्या में थोड़ा समय अलग देना चाहिए।

बचपन में यात्रा के दौरान बहुतों के घर में रहने का अवसर मिला है। देखते थे कि आदमी सबेरे नहा-धोकर, समय के अभाव के कारण तौलिये से अपने गीले शरीर को पोंछते हुए, एक हाथ में अगरबत्ती लेकर हनुमान जी की फोटो के सामने खड़े होकर 'जय हनुमान ज्ञान गुन सागर' गा रहा है और अपने शरीर को पोंछते भी जा रहा है। कहता है कि क्या करूँ, समय का अभाव है, पर कुछ तो करना है। इसलिए गीले शरीर को पोंछते हुए, हाथ में अगरबत्ती को हिलाते हुए हनुमान चालीसा का पाठ करता है।

इस प्रकार की भावना से भक्ति कैसे सिद्ध होगी? किन्तु यह मार्ग भी गलत नहीं है। चम्मच भर चीनी नहीं खा रहे हो, लेकिन चीनी का एक दाना तो अपने मुँह में जरूर डाल रहे हो और उसी में तुमको उस मिठास का आभास भी हो रहा है, चाहे वह एक दाने की ही मिठास क्यों न हो। अगर अपने जीवन में तुम संयम को ला पाओगे, तो यह अपरा भक्ति परा

भक्ति में बदल जायेगी। तब ईश्वर के प्रति प्रीति स्वाभाविक हो जाएगी। अभी वासनाओं के कारण ईश्वर के प्रति तुम्हारी प्रीति स्वाभाविक नहीं है। जब तुम्हें लगता है कि जीवन में सुख आ गया है, आनन्द आ गया है, तुम भगवान का नाम लेना छोड़ देते हो।

दुःख में सुमिरन सब करे सुख में करे न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करे तो दुःख काहे का होय ॥

कुन्ती की प्रार्थना

महाभारत युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हो गया, राज्य में पुनः व्यवस्था और धर्म की स्थापना हो गई। तब श्रीकृष्ण पाण्डवों से विदा लेने आते हैं, कहते हैं, अब द्वारका लौटने का समय आ गया है। कुन्ती से कहते हैं, 'बुआ, अब तो तुम प्रसन्न हो? तुम्हारे जीवन में सब मंगल है। तुम्हारे जीवन से दुःख के क्षण दूर चले गये और सुख के क्षण आ गये हैं। मुझे वापस जाने की अनुमति दो, और यदि तुम कुछ और चाहती हो तो वह भी बताओ।'

माता कुन्ती कहती है, 'हे केशव, जब हमें सुख, सम्पत्ति, सुविधा, राज्य, आनन्द, वैभव, ऐश्वर्य, नाम, यश और कीर्ति प्राप्त हो गयी, तब तुम जा रहे हो। तुम अगर मुझे कुछ देना चाहते हो तो दुःख दो। मैंने देखा है कि जब-जब दुःख में हमने तुम्हें पुकारा है, तुम हमेशा उपस्थित रहे हो। जब द्रौपदी का चीर-हरण हो रहा था, तुम वहाँ उपस्थित हो गये। जब ऋषि



दुर्वासा शिष्यों के साथ पाण्डवों के पास भोजन हेतु वन में पहुँचे, तब उनको खिलाने के लिये हमारे पास अन्न का एक कण भी नहीं था। तुम्हें याद किया, तुम तुरन्त वहाँ उपस्थित हो गये। हे प्रभु, जब भी हमने तुम्हें दु:ख के क्षण में याद किया, तुम्हें हमेशा अपने साथ पाया, लेकिन अब जब हमको सुख मिल रहा है, तुम्हें अपने से दूर जाते हुए देख रहे हैं। अब तुम विदा लेने आये हो। हे केशव, मुझे संसार में वह सुख नहीं चाहिए जो मुझे तुमसे दूर कर दे, बल्कि मुझे वह दु:ख दो जिसके द्वारा तुम्हारा स्मरण, तुम्हारी याद, तुम्हारा चिंतन हमेशा मेरे मन में बना रहे।'

माता कुन्ती की भावना और अपनी भावनाओं को एक बार देख लो। आप तो भगवान को कभी नहीं कहते कि भगवान, दु:ख दो, ताकि तुम्हारी याद रहे। आप तो भगवान को कहते हो कि भगवान, सुख दो ताकि मैं इस संसार में भोग करते हुए आनन्द से अपना जीवन बिता सकूँ।

सच्चे भक्त की भावना

एक भावना होती है भक्त की और एक भावना होती है भोग में लिप्त व्यक्ति की। भक्त अपने लिये कुछ कामना नहीं करता। एक बार एक साधु ने दीर्घकाल तक ईश्वर की आराधना की और उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान सामने प्रकट हो गये। भगवान भी आदत से लाचार हैं। अन्तर्यामी जरूर हैं लेकिन आदत से लाचार हैं। वे उस संत के पास पहुँचे और अपनी आदत के कारण कहते हैं, वर माँगो। उस साधु ने किसी कामना को लेकर नहीं, मात्र ईश्वर दर्शन के लिए तपस्या की थी। उसने कहा, 'भगवान, मुझे आप से कुछ नहीं चाहिये। केवल आपका दर्शन चाहता था। सो प्राप्त हो गया।'

भगवान ने कहा, 'मैं तो अपने वचन से बँधा हुआ हूँ। एक बार मेरे मुँह से निकल गया 'वर माँग' तो तुम्हें कुछ-न-कुछ माँगना पड़ेगा।' भक्त कहता है, 'भगवान, आप मेरी भक्ति का अनादर कर रहे हो। एक तरफ सर्वज्ञ हो, और दूसरी तरफ कहते हो कि वर माँगो। मैंने तो कुछ नहीं चाहा था। अब तुम्हारी सर्वज्ञता कहाँ चली गयी?'

भगवान ने कहा, 'देखो भई, मैं तो प्रेम के वश भूल गया कि किसके पास आ रहा हूँ। तुमने मुझे बुलाया, मैं आ गया। और प्रेमवश ही कहा 'वर माँग'। अब मैं वचनबद्ध हूँ।' साधु ने कहा, 'अगर तुम वचनबद्ध हो तो मैं भी संकल्पबद्ध हूँ। मैंने किसी कामना को लेकर तुम्हारी आराधना नहीं की।

मेरा संकल्प मात्र तुम्हारा दर्शन था। वह हो गया अब तुम जाओ। अपने लोक लौट जाओ।'

भगवान ने सोचा कि भक्त तो बहुत मिले हैं, लेकिन ऐसा नहीं मिला जो मुझे कहे, अपने लोक वापस चले जाओ। उन्होंने फिर प्रयास किया। कहा कि देखो, अंतिम बार कह रहा हूँ, कुछ माँग लो, मैं वचनबद्ध हूँ। भक्त ने कहा, 'आप अन्तिम बार कह रहे हैं, लेकिन मैंने प्रथम बार ही कह दिया था कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। आप मेरी भक्ति का निरादर कर रहे हो। मैं जाता हूँ, आप यहीं खड़े रहो।' और वह पीठ दिखाकर चल पड़ा।

भगवान उस भक्त को वात्सल्यपूर्ण नेत्रों से देखते हैं, जो पीठ दिखाकर चले जा रहा है। कहा, ऐसा भक्त तो मुझे आज तक मिला नहीं। क्या करूँ? कुछ तो देना है, वचनबद्ध जो हूँ। उन्होंने भक्त की छाया को आशीर्वाद दे दिया कि तुम जिस पर पड़ो, वह सुखी हो जाए, सम्पन्न हो जाए, स्वस्थ हो जाए। उस साधु को मालूम भी नहीं चला। उसका काम हो गया था, वह ईश्वर का दर्शन प्राप्त कर चुका था। वह तो चलते रहा। लेकिन उस साधु की छाया एक सूखे वृक्ष पर पड़ी तो वह वृक्ष फिर से फूल-पत्तों से लद गया। उस साधु की छाया एक कोढ़ी पर पड़ी, कोढ़ दूर हो गया। छाया एक अन्धे पर पड़ी, अंधापन दूर हो गया। छाया एक मृत शरीर पर पड़ी, मृत शरीर जीवित हो गया। साधु के जाने बिना उसकी छाया ईश्वर की कृपा से चमत्कार करती गई। यह परा भक्ति का स्वरूप है।

अपरा भक्ति का स्वरूप

अब अपरा भक्ति की एक कहानी। किसी जगह दो पड़ोसी भक्त थे, जो खूब पूजा-पाठ करते थे। भगवान दोनों से खुश हो गये। एक भक्त के यहाँ प्रकट होकर कहा, वर माँग। भक्त ने कहा, 'प्रभु मात्र भक्ति दो।' भगवान कहते हैं, 'जैसी तुम्हारी इच्छा।' उसके बाद वे दूसरे भक्त के यहाँ प्रकट हो जाते हैं और कहते हैं कि वर माँग। दूसरा भक्त जान चुका था कि भगवान मेरे पड़ोसी के यहाँ पहले गये थे। उसे ईर्ष्या होने लगी थी कि भगवान मेरे पड़ोसी के यहाँ पहले गये, मेरे यहाँ नहीं आये। अब क्या करूँ? उसने हाथ जोड़कर भगवान से कहा, 'भगवान, मेरी यही इच्छा है कि मैं जो कामना करूँ, मेरे पड़ोसी को उसका दुगुना मिल जाये।' भगवान ने 'तथास्तु' कह दिया और चले गये।



NAND YOGA
सत्यानंद योग
बिहार योग












HRIM
KLIM
ऐं ह्रीं
क्लीं
झारखण्ड ॥



अब यह भक्त जो ईर्ष्या से हरा-पीला हो रहा था कहता है, 'मेरी एक आँख फूट जाए।' उसकी तो एक आँख फूटी लेकिन उसके पड़ोसी की दोनों आँखें फूट गयीं। फिर उसने कहा, 'भगवान मेरा एक पैर टूट जाए', पड़ोसी के दोनों पैर टूट गये। अंत में उसने कहा, 'भगवान, मेरे दरवाजे के सामने एक कुआँ हो जाए', पड़ोसी के घर के सामने और पीछे के दरवाजे पर कुएँ हो गये! कहानी का तात्पर्य यह कि ईर्ष्या और द्वेष के कारण दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए, दूसरे को कष्ट देने के लिये भी लोग भगवान से प्रार्थना करते हैं।

अपरा और परा भक्ति के और भी बहुत-से दृष्टान्त दिये जा सकते हैं लेकिन पहले यह जान लेना चाहिए कि इन दोनों की ओर किस प्रकार के भक्त आकृष्ट होते हैं। शास्त्रों में चार प्रकार के भक्तों का वर्णन है। ये चार प्रकार के भक्त दो श्रेणियों में बाँटे गये हैं। पहली श्रेणी में आर्त और अर्थार्थी भक्त आते हैं, जो अपरा भक्ति करते हैं। दूसरी श्रेणी जिज्ञासु और ज्ञानी भक्तों की है, जो परा भक्ति को साधते हैं।

हम में अधिकांश लोग आर्त और अर्थार्थी की श्रेणी में आते हैं। कुछ चुने हुए साधक, जिनके जीवन में कुछ कामना शेष नहीं, जिज्ञासु की श्रेणी में आते हैं। उन जिज्ञासुओं में से कुछ गिने-चुने लोग, जो अपने भीतर परमात्म-तत्त्व का अन्वेषण कर रहे हैं, ज्ञानी की श्रेणी में आते हैं।

भक्ति में पाँच बाधाएँ

हमारी यात्रा शुरू होती है आर्त या अर्थार्थी के रूप में। यात्रा शुरू करने से पहले मार्ग की बाधाओं को जान लेना जरूरी है। भक्ति में प्रमुख अवरोध है अभिमान का और अभिमान से जुड़ी पाँच बाधाएँ हैं। पहली बाधा है जाति अभिमान। हम ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय हैं, शूद्र हैं, वैश्य हैं–भिन्न-भिन्न सम्बन्धों को हम अपने से जोड़ते हैं और उस रूप में स्वयं को देखते हैं। ब्राह्मण स्वयं को ब्राह्मण रूप में ही देखेगा। क्षत्रिय अपने आपको क्षत्रिय रूप में ही देखेगा। यह जाति अभिमान है, जो भक्ति में बाधक है। इसके लिए क्या करना चाहिए? ऊँच-नीच का भाव छोड़कर ईश्वर की संतान होने के भाव को अपने जीवन में धारण करो। मैं बड़ा हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं सत्कर्मी हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ; यह मानसिकता अहंकार को बढ़ाती है। अहंकार के बढ़ने पर भावना ईश्वर में केन्द्रित नहीं हो पाती। जाति अभिमान भक्ति मार्ग में एक बड़ा बाधक है।

दूसरी बाधा है विद्या अभिमान। मैं डिग्रीधारी हूँ, मैंने इतनी पढ़ाई की है, मैंने इतनी किताबें लिखी हैं, मैं इतने दर्शनों का ज्ञाता हूँ, यह विद्या का अभिमान है। तीसरा है, पद अभिमान। जो पद पर है, वह अकड़ जाता है, दूसरों के सामने झुकता नहीं है। अगर कंगाल राजा बन जाए तो अकड़कर चलेगा। एक गरीब अगर धनवान् हो जाए तो अहंकारी हो जाता है। यह है पद का अभिमान। हृदय की कोमलता समाप्त हो जाती है, व्यक्ति अकड़ जाता है, सोचता है कि अब तो मैं कुछ बन गया, अब दूसरों को दिखाऊँगा। चौथी बाधा सौन्दर्य का अभिमान है और पाँचवी बाधा है, यौवन का अभिमान। जैसे-जैसे चालीस की उम्र पार होती है, यौवन का अभिमान स्वत: घटता जाता है।

भक्ति शास्त्रों में यौवन, सौन्दर्य, पद, विद्या और जाति के अभिमान को भक्ति मार्ग में बाधक माना है। इसलिए कुछ करने से पहले एक बार अपने जीवन को व्यवस्थित कर लो। देख लो कि तुम अपने जीवन में किस अभिमान के कारण मार खाते हो। जब तक अभिमान तुम्हारे जीवन में रहेगा तुम भक्ति मार्ग में आगे नहीं बढ़ पाओगे। जैसे सड़क पर स्पीड-ब्रेकर होता है, उसी प्रकार ये भक्ति मार्ग के स्पीड-ब्रेकर हैं। जब भी इनके निकट आओगे, गाड़ी धीरे हो जाएगी और जब इस अभिमान रूपी स्पीड-ब्रेकर को पार कर जाओगे, गाड़ी तेजी से बढ़ेगी।

भक्ति के पाँच शत्रु

भक्ति के शत्रु भी हैं। पहला शत्रु काम वासना है। तुलसीदास जी संत होने से पहले एक शादीशुदा व्यक्ति थे। बीवी के साथ उनका अनन्य प्रेम था, उस पर आसक्त थे। दिनभर अपनी बीवी के सुन्दर रूप को निहारते रहते थे। बीवी एक दिन मायके चली गई। जब तुलसीदास जी बाजार से लौटे तो घर को खाली देखा। पड़ोसियों से पूछा तो पता चला कि बीवी मायके गई है।

पत्नी का मायका दूर नहीं था। तुलसीदास ने सोचा कि हम भी पत्नी के यहाँ चले जाते हैं, उसका घर कुछ किलोमीटर दूर ही तो है। वे चल पड़े। अंधेरा हो रहा था, आगे एक नदी थी। बरसात का मौसम था, नदी में बाढ़ आई हुई थी। जब तुलसीदास नदी के पास पहुँचे, तब अंधेरा हो चुका था, सब नाव बँध चुके थे और कोई भी नाविक पास में नहीं था। तुलसीदास ने सोचा कि मैं खुद किसी छोटी नाव या लकड़ी के सहारे नदी पार कर

जाऊँगा। अंधेरे में एक लकड़ी को बहते हुए देखा, तो पानी में कूद गए, और उस लकड़ी को पकड़कर तैरते हुए दूसरे किनारे जा पहुँचे। जब तक वे बीवी के गाँव पहुँचे, रात हो चुकी थी।

बीवी का कमरा पहली मंजिल पर था। घर में कैसे घुसें? अचानक उनकी नजर एक रस्सी पर पड़ी जो पहली मंजिल से लटक रही थी। रस्सी पकड़कर चढ़ गये और खिड़की खटखटायी। उनकी पत्नी ने खिड़की खोली। वह आश्चर्यचकित थी, 'आप यहाँ!' तुलसीदास ने कहा कि मैं तुमसे बहुत प्रेम करता हूँ, तुम्हारे विरह में मेरा जीवन कठिन हो जाता है। उन्होंने अपनी पत्नी को ले जाकर जब वह रस्सी दिखाई जिससे वे ऊपर चढ़े थे तो पाया कि रस्सी एक लम्बा सर्प था! जिसको लकड़ी समझकर नदी पार की थी, वह पानी में फूला हुआ मृत शरीर था!

उनकी पत्नी ने कहा कि जितना प्रेम आप मुझसे करते हैं, उसके दसवें भाग से अगर आप ईश्वर से प्रेम करते, तो आपका बेड़ा पार हो गया होता। जब तुलसीदास जी ने अपनी पत्नी के मुँह से यह बात सुनी, तो वे उल्टे पाँव लौट गए और ईश्वर की अनन्य भक्ति में प्रवृत्त हो गए।

आदमी काम-वासना में इतना अन्धा हो जाता है कि सही-गलत को पहचान नहीं पाता। इसलिए काम को भक्ति का प्रथम शत्रु माना गया है। इस कामरूपी शत्रु पर कैसे विजय प्राप्त हो? भक्ति शास्त्र के अनुसार इस शत्रु को ब्रह्मचर्य के द्वारा समाप्त करो। ब्रह्मचर्य का अर्थ है अपने मन से कामवासना को निकाल दो। यह मन की एक स्थिति है। एक गृहस्थ के लिए सम्भोग आवश्यक है, लेकिन सम्भोग के साथ वह ब्रह्मचर्य का भी पालन कर सकता है।

एक समय की बात है, दो संन्यासी गंगा जी के किनारे घूम रहे थे। घाट के पास एक नाला था जिसके दूसरी ओर एक युवती खड़ी थी। युवती ने संन्यासियों को देखकर कहा कि मेरे को नाला पार करा दीजिए। एक स्वामी ने उस युवती को अपनी गोद में उठाया और नाला पार करके दूसरी तरफ खड़ा कर दिया। दूसरे स्वामी ने देखा और सोचा कि इस गुरुभाई ने लड़की के शरीर का स्पर्श किया, चलो गुरुजी को बताते हैं, इसको मजा चखाएँगे। दोनों पहुँचे गुरुजी के पास। दूसरा स्वामी कहता है, 'गुरुजी, इस स्वामी ने आज गलत काम किया है?' गुरुजी ने पूछा, 'क्या गलत काम किया है?' 'इसने एक लड़की को अपनी गोद में उठा लिया।' 'किस कारण से उठाया?' 'नाला पार कराने के लिए।'



गुरुजी कहते हैं, 'इसने तो उस लड़की को उठाकर नाला पार कराया और वहीं छोड़ दिया। पर तुम तो अभी तक उसे साथ लेकर चल रहे हो!' यह एक वृत्ति का उदाहरण है। एक ने उठाया और छोड़ दिया जबकि दूसरा घण्टों तक इस विचार को मन में रखकर परेशान होता रहा।

ब्रह्मचर्य का मतलब सम्भोग से मुक्ति नहीं। ब्रह्मचर्य का मतलब होता है, अपने जीवन के समस्त विचारों एवं व्यवहार में ब्रह्म का आचरण दिखलायी दे। ब्रह्म का आचरण मतलब अच्छाई। अच्छा करोगे, अच्छा पाओगे। ब्रह्मचर्य का मतलब सत्य का अनुसरण, असत्य का नहीं। ब्रह्मचर्य का मतलब काम वासना में लिप्त नहीं रहना, अपेक्षा नहीं करना, आशा नहीं करना, कामना नहीं करना। काम भक्त का प्रथम शत्रु है, लेकिन भक्त मन को ईश्वर से जोड़कर, मन को ब्रह्मचर्य की अवस्था में लाकर, इस काम रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है।

भक्ति का दूसरा शत्रु है क्रोध। क्रोध आ जाए तो भक्ति सिद्ध नहीं होती। और क्रोध का समाधान होता है क्षमा के साथ। तीसरा शत्रु है लोभ। लोभी व्यक्ति भक्ति को सिद्ध नहीं कर सकता। प्रयास जरूर करता है, लेकिन सिद्ध नहीं कर सकता। लोभ का निवारण होता है विरक्ति के द्वारा। मान लीजिये आपका पड़ोसी आपका अनन्य मित्र है। वह कुछ समय के लिए कहीं बाहर

जा रहा है। वह आपसे कहता है कि मेरे घर में टेलीविजन, वीडियो और टेप रिकार्डर जैसी बहुत सारी कीमती चीजें हैं, मैं घर की चाबी तुम्हें देकर जाता हूँ, मेरी अनुपस्थिति में घर की देखभाल कर लिया करना। चाबी देकर पड़ोसी चला जाता है और आप देखभाल करने लगते हो। उसके घर में बहुत सुन्दर-सुन्दर चीजें हैं, लेकिन उन पर आपका स्वामित्व नहीं है। आप केवल देखभाल कर रहे हो। जब वह लौट आता है तब आप उसको घर की चाभी लौटा देते हो। आपने जब उसके घर-सम्पत्ति की देखभाल की तो किस भावना से की? विरक्त भावना से। लेकिन उस विरक्त भावना में कर्त्तव्य को भूले नहीं। कर्त्तव्य-परायणता ही विरक्ति की भावना को लाती है और क्रिया को करने की शक्ति देती है। अगर कर्त्तव्य का बोध न हो तो लोभ उत्पन्न होगा और लोभ में फिर प्राप्त करने की कामना होती है। इसलिए लोभ रूपी शत्रु का निवारण विरक्ति की भावना से होना है।

चौथा शत्रु है भ्रम, और इसका निवारण होता है चिन्तन के द्वारा। बहुत लोग सोच में पड़ जाते हैं कि क्या करना, क्या नहीं करना, किस से पूछें, किस से नहीं पूछें, भ्रमित हो जाते हैं। चिन्तन द्वारा उस भ्रम से मुक्ति पा सकते हैं। चिन्तन के अभाव में, सजगता के अभाव में, बुद्धि के अभाव में, ज्ञान के अभाव में, अनुभव के अभाव में भ्रम उत्पन्न होता है। चिन्तन से जब तुमको समझ आ जाए, तब भ्रम उत्पन्न नहीं होगा।

पाँचवा शत्रु है लौकिक प्रेम। जो प्रेम भावना अभी पति-पत्नी, बेटा-बेटी, माता-पिता या मित्र-सखा से जुड़ी है, उस को व्यापक बनाना है। अगर व्यापक नहीं बने तो लौकिक प्रेम भक्ति मार्ग में बाधक हो सकता है। एक उदाहरण, दादी माँ घर में बैठकर माला जपते रहती है, जप करते-करते कहती है, 'बहू! आज बेटे की पतलून सिलवानी है, दर्जी के पास ले जाना भूलना मत।' दो-चार दाना फेरती है, फिर कहती है, 'बहू, चूल्हे पर दूध रखा हुआ है। कहीं उसमें उफान न आ गया हो।' फिर चार दाना घुमाती है और कहती है, 'अरे बहू! आज पोते का जन्मदिन है, उसका जूता पॉलिश करवा देना!'

एक तरफ हो रही है ईश्वर की भक्ति और दूसरी तरफ पूरा ध्यान घर के काम-काज में। अगर दादी से कहोगे कि घर के काम-काज में ध्यान क्यों दे रही हो, जप पर ध्यान दो, तो जानते हो दादी क्या जवाब देगी? 'प्रेम के कारण ही तो मैं इन पर ध्यान देती हूँ। अगर नाती-पोते से प्रेम न हो तो मेरे

को क्या पड़ी है कि पतलून बने या जूता पॉलिश हो। प्रेम के कारण ही तो सब बोलती हूँ।' यह सांसारिक, भौतिक या लौकिक प्रेम है। इस प्रेम में परिवर्तन लाकर इसे व्यापक बनाना है। हम दो और हमारे दो के सम्बन्ध को बदल देना है ईश्वरीय सम्बन्ध में।

ये पाँच आन्तरिक शत्रु हैं जिनसे जूझकर भक्त को विजय प्राप्त करनी है–काम पर विजय ब्रह्मचर्य के द्वारा; क्रोध पर विजय क्षमा के द्वारा; लोभ पर विजय विरक्ति के द्वारा; भ्रम पर विजय चिन्तन के द्वारा और लौकिक प्रेम पर विजय दैविक प्रेम के द्वारा। भक्ति केवल घण्टी बजाना नहीं है, यह जीवन में एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की प्रक्रिया है।

भक्ति में पाँच भाव

भक्ति में पाँच भाव आते हैं। बिना भाव के भक्ति नहीं। भाव आराध्य के साथ सम्बन्ध को दर्शाता है। हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं कि मैं भगवान का सेवक हूँ, दास हूँ। वे जैसा कराते हैं, मैं करता हूँ। उन्हीं के शब्दों में, 'मैंने जीवन में बहुत प्रकार के सम्बन्धों को आजमाया। सोचा कि ईश्वर मेरे सखा भी हैं, लेकिन उसमें मुझे सुख नहीं मिला। सोचा कि ईश्वर मेरी सन्तान हैं, लेकिन उसमें मुझे आनन्द नहीं मिला। सोचा मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ, उसमें भी मुझे आनन्द नहीं हुआ। मुझे आनन्द की अनुभूति तब हुई जब मालूम पड़ा कि मैं ईश्वर का दास हूँ, उसी दास्य भाव को लेकर मैं आज जीता हूँ।'

भावना मनुष्य के सम्बन्धों को स्थापित करती है, और स्वामी सत्यानन्द जी हमेशा कहते हैं कि तुम निर्णय लो कि तुम्हारा ईश्वर के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए। भक्त और भगवान का सम्बन्ध व्यापक होता है। तुम तब तक सही मायने में भक्त नहीं बन सकते जब तक तुम्हारे भीतर एक ऐसा भाव स्थापित नहीं होता, जिसके माध्यम से तुम परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध को पहचान पाते हो। जिस दिन भावों के माध्यम से सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा, तुम भक्त बन जाओगे।

सम्बन्धों में पहला है शान्त भाव और दूसरा है दास्य भाव। जब तक मनुष्य का चित्त चंचल है, वह ईश्वर पर केन्द्रित नहीं हो पायेगा। इसलिए आराधना के पहले अपने आपको शान्त करो। यह है शान्त भाव। आराधना के दौरान मन में यह विचार लाओ कि मैं परमात्मा का सेवक मात्र हूँ। यह

दास्य भाव है। भक्ति शास्त्र में कहा है कि ये दो भाव उनके लिए हैं जो भक्ति मार्ग में अपनी यात्रा आरम्भ कर रहे हैं।

लोग योगाभ्यास करते हैं, अनुष्ठान करते हैं, मन्त्र पाठ करते हैं। यह सब कैसे आरम्भ होता है? पहले शरीर को स्थिर करते हैं, फिर इन्द्रियों की हलचल को शान्त करते हैं, फिर मन की चंचलता को स्थिर करते हैं, फिर एक प्रतीक पर मन को एकाग्र करते हैं। उसके बाद अभ्यास आरम्भ होता है। पहले शारीरिक स्थिरता, उसके बाद मानसिक स्थिरता, और उसके बाद अभ्यास क्रम। यह योग की विधि है। उसी प्रकार भक्ति में संसार के विषयों से मन को हटाकर शान्त भाव में स्थित करो। तुम्हारे और तुम्हारे आराध्य के अतिरिक्त संसार में कोई नहीं और चित्त के विचलित होने का अन्य कारण भी नहीं। मन में यह विचार लाओ कि मैं सेवक हूँ। सेवक की भावना से ही व्यक्ति भक्ति मार्ग की यात्रा प्रारम्भ करता है।

यात्रा के प्रारम्भ होने पर तीन भाव और प्रकट होते हैं–साख्य भाव, वात्सल्य भाव और माधुर्य भाव। पहले आता है साख्य भाव। ईश्वर का मैं सखा हूँ, मित्र हूँ, अनुयायी हूँ। साख्य भाव के उदाहरण हैं–सुदामा और कृष्ण, सुग्रीव और राम। जब दो व्यक्तियों का आपसी सम्बन्ध घनिष्ठ होता है, तब साख्य भाव आता है। अगर सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं, तो साख्य भाव भी नहीं। साख्य भाव सम्बन्ध की घनिष्ठता को दर्शाता है।

फिर है वात्सल्य भाव, जैसा बच्चे के प्रति माता-पिता का स्नेह और प्रेम होता है। माँ स्वयं भूखी रहकर अपने बच्चे को खाना देती है। अपने बच्चे के लिए माँ कितना बलिदान करती है! किस भाव से प्रेरित होकर? वात्सल्य से। वात्सल्य की भावना मनुष्य से बलिदान करवाती है। मनुष्य अपने आपको भूल जाता है और दूसरे की छवि मन में आ जाती है।

अंत में है माधुर्य भाव। *अधरं मधुरं वदनं मधुरम्*–सब कुछ मधुर दिखता है, सब कुछ सुन्दर दिखता है, किसी में कोई दोष, कोई अभाव दिखलायी ही नहीं देता। माधुर्य भाव में सम्पूर्णता का ही अनुभव होता है।

भक्ति शास्त्रों में पाँच भाव बतलाए गये हैं। प्रारम्भ में शान्त और दास्य भावों से मनुष्य भक्ति मार्ग पर यात्रा आरम्भ करता है और धीरे-धीरे वह साख्य, वात्सल्य और माधुर्य भावों को भी जाग्रत करता है। जिज्ञासु तथा ज्ञानी भक्तों के लिए ये पंच भाव आवश्यक हैं। और जो आर्त और अर्थार्थी हैं उनके लिए अन्य भाव हैं।

भक्ति का आधार – श्रद्धा और विश्वास

संध्याकालीन सत्र, 5 जुलाई 2009

यहाँ का कार्यक्रम भक्ति पर प्रवचन नहीं है, बल्कि भक्ति आराधना है। यहाँ जो महामृत्युंजय मंत्र, गायत्री मंत्र, दुर्गा मंत्र, गुरु मंत्र और अन्य वैदिक मंत्रों का पाठ होता है, भजन-कीर्तन होता है, स्तोत्र पाठ होता है, वे भक्ति आराधना के अंग हैं। इनका प्रयोजन मन को एक भावना में टिका देना है, एक भावना को जागृत कर अपनी चंचल चित्तवृत्ति को उस भावना में केन्द्रित कर देना है।

सांसारिक जीवन भोगमय है और आध्यात्मिक जीवन भक्तिमय। संसार में भोग है और अध्यात्म में योग। जो भोग में रहता है वह रोग को प्राप्त करता है और जो योग में रहता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष प्राप्त करने का



मतलब आन्तरिक शान्ति और आन्तरिक सुख मिलना। ईश्वर की कृपा हो जाए तो मनुष्य अपने कर्म बन्धनों से, दु:खों से मुक्त हो सकता है। भक्ति का मार्ग स्वयं को अन्तरात्मा से जोड़ने का मार्ग है। इस जोड़ने की प्रक्रिया में जो बाधाएँ सामने आएँ, उनको पार करना जीवन का पुरुषार्थ है।

भक्ति मार्ग में बड़ी बाधा अभिमान की है, चाहे जिस रूप में हो। यह अभिमान एक पर्दे के रूप में आत्मा और परमात्मा के बीच पड़ा है, जो जीवन को परमात्मा के प्रकाश से आलोकित नहीं होने देता। अभिमान के प्रति भक्त को सजग रहना पड़ता है। अभिमान जीवन में कब बढ़ता है, कैसे आता है, क्या परिणाम होता है, कोई जानता नहीं। अगर किसी को ज्ञान हो तो अभिमान है। अगर किसी को सौन्दर्य है तो अभिमान है। अगर किसी का नाम-यश है तो अभिमान है। अगर किसी के पास सम्पत्ति है तो अभिमान है। लगता है कि अभिमान जिन्दगी में सुख का फल है। जीवन में जब मनुष्य भौतिक सुख को प्राप्त करता है, तो उसके जीवन वृक्ष में अभिमान का फल उगता है। इसलिए अभिमान को सांसारिक सुख की परिणति मानते हैं।

जो मनुष्य संसार में ही सब कुछ खोजता है, उसके जीवन का आधार अभिमान होता है। इस अभिमान के प्रति सजग होना, जागृत होना, जागरूक होना, एक भक्ति मार्गी का पहला प्रयास, पहली साधना है। अभिमान का त्याग कर, हरि नाम को धारण कर, स्वयं को विनम्र बनाना ही भक्त की पहचान है।

इसके साथ काम, क्रोध, लोभ, भ्रम और भौतिक प्रेम को, जिनको भक्ति शास्त्र में पंच-शत्रु माना गया है, व्यवस्थित करो और अपने प्रेम के सीमित दायरे को बढ़ाते जाओ। उच्च विचार को धारण करके वासनाओं पर विजय प्राप्त की जाती है। क्षमा के द्वारा क्रोध पर विजय, वैराग्य और विरक्ति के द्वारा लोभ पर विजय तथा चिन्तन-मनन के द्वारा मन की भ्रामक अवस्था पर नियन्त्रण पाया जाता है। और भौतिक प्रेम को दिव्य प्रेम में परिणत करने के लिए ईश्वर चिन्तन आवश्यक है। जब तुम अपने पति या पत्नी के बारे में सोचोगे तो वह प्रेम का अनुभव दिव्य नहीं होगा। पर जब ईश्वर चिन्तन करोगे तब प्रेम का स्वरूप दिव्य होगा, क्योंकि वह किसी स्वार्थ वृत्ति या स्वप्रेरित वासना से जुड़ा नहीं होगा। वह दिव्य प्रेम जीवात्मा और उसके स्रोत के बीच एक गहरे सम्बन्ध की स्थापना है। उसी सम्बन्ध को भक्ति कहते हैं।

पाँच प्रकार की उपासना

भक्ति की उपासना पद्धति का उपयोग लोग पाँच प्रकार से करते हैं। एक दु:खी, आर्त व्यक्ति को कोई कहे कि तुम कष्ट से मुक्ति पाने के लिए अमुक आत्मा का आवाहन करो या अमुक पूजन करो और इस विचार से प्रेरित होकर वह आत्माओं का आवाहन-आराधना करे तो यह निम्न कोटि की उपासना है। बहुत लोग सिद्धियों के चक्कर में या कुछ पाने के चक्कर में मन्त्रों द्वारा लोगों को अपने अधीन करना चाहते हैं, आत्माओं को अपने अधीन करना चाहते हैं और उस अनुरूप उपासना करते हैं। वे सभी निम्न कोटि के उपासक होते हैं, ऐसा माना गया है। यह भक्ति का सबसे निचला दर्जा है।

इसके आगे लोग ऋषि, देवता, प्रकृति, आदि की पूजा करते हैं। यह मध्यम कोटि की उपासना है। फिर कुछ लोग देवताओं के विग्रहों या अवतारों की आराधना करते हैं, जैसे राम, कृष्ण, साधु-सन्त, अवतार और सिद्ध गुरुजन। इनकी उपासना तीसरी श्रेणी की है। चौथी उपासना होती है सगुण ब्रह्म की, और पाँचवी उपासना निर्गुण ब्रह्म की।

भक्ति में इन पाँच प्रकार की उपासनाओं को मान्यता दी गयी है। इनमें आत्माओं का उपासक निम्न कोटि का है और निर्गुण का उपासक उच्च कोटि का। जो अवतारों का, सिद्धों का, गुरुओं का उपासक है, उसे मध्यम-उच्च कोटि का माना गया है। उच्च कोटि या निम्न कोटि, ये तो समझाने के लिए शब्द मात्र हैं। निम्न कोटि का तात्पर्य उस अवस्था से होता है जिसमें चेतना ऊर्ध्वगामी नहीं, विषयों में ही अधिक लिप्त होती है। उच्च कोटि की उपासना में चेतना का उत्थान और विकास होता है। निम्न श्रेणी में आदमी तमस् से ऊपर नहीं उठता। भक्ति का प्रयोजन जीवन में सत्त्व को लाना है, और उच्च श्रेणी की उपासना में ही यह प्रयोजन सिद्ध होता है।

समाज में अनेक पद्धतियों और प्रचलनों को देखते हैं। कोई किसी की पूजा कर रहा है, कोई किसी की आराधना कर रहा है, कोई किसी का अनुष्ठान कर रहा है, कोई मसान में जा रहा है, कोई मन्दिर में कर रहा है, कोई एकान्त में कर रहा है, कोई बाजार में कर रहा है–लोग अपनी मानसिकता और गुणों के अनुसार अलग-अलग साधना पद्धतियाँ अपनाते हैं। ईश्वर की उपासना के लिए, ईश्वर से सम्बन्ध बनाने के लिए मनुष्य की अपनी ही इच्छा, कामना और भावना उसे प्रेरित करती है। अगर मनुष्य की इच्छा और भावना नहीं तो ईश्वर के साथ उस मनुष्य का सम्बन्ध भी नहीं, सीधी-सी बात है।

भक्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया

जीवन में जिन तामसिक अवस्थाओं के कारण तुम काम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष आदि का अनुभव करते हो, इच्छाओं और वासनाओं को जन्म देते हो, पहले उनसे मुक्ति मिलनी चाहिए। इन तामसिक अवस्थाओं से मुक्त होकर जीवन में अच्छे गुणों को धारण करो। अपने को सुधारने का यह तुम्हारा व्यक्तिगत प्रयास है। यह मत सोचो कि कीर्तन-भजन, आराधना, उपासना, मन्त्र-जप से स्वत: सब चीजें बदल जाएँगी। ऐसा नहीं होता।

भोजन को सामने रखो, एकटक देखते रहो, छूते रहो, ऐसा करने से पेट भरने वाला नहीं है। जब तक तुम भोजन को खाओगे नहीं, चबाओगे नहीं, गटकोगे नहीं, तुम्हारा पेट नहीं भरेगा। उसी प्रकार चाहे कितने मंत्र क्यों न पढ़ो, परिवर्तन नहीं होगा, क्योंकि तुम्हें तो अपने मन को झेलना है। और मन को झेलना सरल नहीं है। मंत्र का जप करते हैं तो पाँच दानों के बाद मन कहाँ भाग जाता है, किसको मालूम? मंत्र-जप के समय दस दानों के लिए तुम अपने मन को एकाग्र नहीं रख सकते और चाहते हो कि जीवन में परिवर्तन हो जाए? इसीलिए भक्ति में कहा है कि इन सब आन्तरिक शत्रुओं को जानो, समझो और मन की भौतिक वृत्ति में आध्यात्मिक परिवर्तन लाओ।

भक्ति से उपलब्धि

भक्ति से प्राप्ति क्या है? सबसे पहले इन्द्रिय-शुद्धि। इन्द्रिय-शुद्धि का मतलब होता है कि जो दृश्य हम देखते हैं, जो ध्वनि हम सुनते हैं, जो स्पर्श हमको होता है, जो सुगन्ध हम ग्रहण करते हैं, जो स्वाद हमको प्राप्त होता है, सबको ईश्वर की देन मानो। इनके द्वारा अपनी इच्छा और कामना पूर्ति का प्रयास मत करो। यह शरीर, मन और भावना तुम्हें भगवान की देन है, लेकिन तुम इनका दुरुपयोग करते हो। तुम्हें एक चाकू दिया गया इस भाव से कि चाकू का उपयोग सब्जी काटने के लिए करोगे, खाना बनाने के लिए करोगे। लेकिन तुम दूसरे को छुरा मारकर, जान लेकर उस चाकू का दुरुपयोग कर रहे हो। चाकू का दोष नहीं है, दोष है बुद्धि का। बुद्धि जब तक स्वार्थ में लिप्त है, तामसिक होगी। वह स्वार्थी बुद्धि कभी भी सात्त्विक, संयमित और व्यवस्थित नहीं हो सकती।

इसीलिए इन्द्रिय-शुद्धि जरूरी है। जो सुनो, जो सूंघो, जो देखो, जो स्पर्श करो, जो स्वाद लो, उसमें परम-तत्त्व का अनुभव करो। केवल अपनी

कामना-पूर्ति के लिए इन्द्रियों का उपयोग मत करो। सौन्दर्य को देखते हो, उसमें परम-तत्त्व को देखो। बातों को सुनते हो, उसमें परम-तत्त्व को सुनो। सुगन्ध लेते हो, उसमें परम-तत्त्व को सूंघो। स्पर्श करते हो, उसमें परम-तत्त्व का अनुभव करो।

स्वामी शिवानन्द जी के बारे में आपको बताया गया कि किस प्रकार वे अपने पेन को, अपने चश्मे को सम्भाल कर रखते थे। उनके जीवन काल में उनके हाथों से एक भी चीज छूटी नहीं, गिरी नहीं, टूटी नहीं। सोच लो उनके जीवन में सजगता का कितना विस्तार और विकास हुआ था! जिस को हम सहज और लापरवाह रूप से लेते हैं, उसके प्रति वे अत्यधिक सजग रहते थे। धोती कहाँ रख रहें हैं, कैसे लपेट रहे हैं, यह नहीं कि आये और कुर्सी पर धोती को फेंक दिया। नहीं, वे धोती को सम्मान देते थे, पेन को सम्मान देते थे, चश्मे को सम्मान देते थे, कागज को सम्मान देते थे। इसका क्या मतलब? आखिर उन्होंने उस वस्तु में किसी तत्त्व का अनुभव किया होगा, किसी ऊर्जा का अनुभव किया होगा। तभी जाकर वे ईश्वर तत्त्व को जड़-चेतन, सभी में देख पाए। 'जड़ता में चैतन्य रश्मि तुम'–यही ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर का गुण है।

इन्द्रिय-शुद्धि, मन-शुद्धि, विचार-शुद्धि, भाव-शुद्धि और आत्म-शुद्धि भक्ति से प्राप्त होते हैं। गीता के बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने भक्त के लक्षणों के बारे में बताया है। भक्ति के उपायों या साधनों के बारे में न बतलाकर यह बतलाया कि एक जागरूक भक्त को किस प्रकार का आचरण करना चाहिए–

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिः यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे ऐसा ही व्यक्ति प्रिय है जिसने अपने जीवन की कलुषता को समाप्त कर दिया है। उसके जीवन में कालापन नहीं है।



राम जी कहते हैं– *मोहि कपट छल छिद्र न भावा।* मुझे ऐसा व्यक्ति पसन्द नहीं जो कपटी है, छली है, जिसके जीवन में कलुषता है। मुझे ऐसा व्यक्ति पसन्द है जो किसी से द्वेष नहीं करे, सभी में मुझको देखे। द्वेष तो तभी होता है जब मैं और तुम, अर्थात् द्वैत की भावना आती है। लेकिन जब मैं और तुम की भावना समाप्त हो जाए और एक ही तत्त्व की आराधना और दर्शन होने लगे तब द्वेष समाप्त हो जाता है। मुझे ऐसा व्यक्ति पसन्द है जो द्वेष-रहित हो, जो मैत्री भाव से युक्त हो, जिसमें करुणा हो, जो अपनेपन से ऊपर उठ चुका हो, जो अहंकार से मुक्त हो, जो सुख और दुःख में समभाव को धारण करता हो। सुख में प्रफुल्लित नहीं होता और दुःख में विचलित नहीं होता। जो क्षमा कर सकता है, जो संतुष्ट है, जो दृढ़-निश्चयी है और जिसने अपने

मन एवं बुद्धि को अर्पित कर दिया है। जिसके भीतर भय, हर्ष, अमर्ष और उद्वेग नहीं, जो किसी से अपेक्षा रखता नहीं, जो शुद्ध रहता है, जो दक्ष है, जो उदासीन है, 'मैं ही कर्त्ता हूँ' ऐसी बुद्धि को अपने पास नहीं रखता, ऐसा व्यक्ति मुझे प्रिय है।

गीता के बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने एक सच्चे भक्त के जो लक्षण गिनाए हैं, उसका क्या प्रयोजन है? यही कि अपने प्रति सजग बनकर अपने जीवन की कलुषता और तामसिकता को दूर करो। सीधी बात इतनी ही है। आध्यात्मिक जीवन की मूल शिक्षा भी यही है।

श्रद्धा और विश्वास

भक्ति मार्ग में मन के दो आधारों का होना आवश्यक है। श्रद्धा और विश्वास भक्ति के आधार माने गए हैं–

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धा: स्वान्तस्थमीश्वरं॥

एक सिद्ध भी श्रद्धा और विश्वास के बिना अपने भीतर स्थित ईश्वर को देख नहीं सकता है, समझ नहीं सकता है, जान नहीं सकता है, पहचान नहीं सकता है। श्रद्धा और विश्वास को भक्ति का आधार माना गया है। श्रद्धा किसके प्रति, और विश्वास किसके प्रति? श्रद्धा उच्च शक्ति में होनी चाहिए और विश्वास अपने ऊपर। ईश्वर में श्रद्धा और स्वयं पर विश्वास।

सामान्यतया मनुष्य स्वयं में विश्वास नहीं करता, अपने को बहुत कमजोर और दुर्बल मानता है। सोचता है कि मैं कर पाऊँगा या नहीं। किसी कार्य को सम्पन्न करने के पहले ही वह कार्य से हार मान लिया रहता है। जीवन में संकल्प-शक्ति का अभाव है, इच्छा-शक्ति का अभाव है और क्रिया-शक्ति का अभाव है। अगर तुम संकल्पित हो तो जीवन में सब कुछ सिद्ध हो सकता है। और संकल्प आता है विश्वास के साथ। विश्वास होता है अपनी क्षमता पर। याद रखना कि भगवान ने किसी को कम-ज्यादा देकर संसार में नहीं भेजा है। जो शक्ति, जो ऊर्जा, राम में थी या बुद्ध, महावीर, कृष्ण, ईसा मसीह या पैगम्बर मोहम्मद में थी, वह हम सब में भी है। अन्तर इतना कि वे लोग उसे जान पाए, हम लोग नहीं जान पाए। भगवान ने सभी में वही तत्त्व समान रूप से दिया है। किसी में ज्यादा या कम नहीं है, सभी में वह क्षमता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो ईश्वर चेतना के विकास-क्रम की अभिव्यक्ति और अनुभूति मात्र है। इससे ज्यादा नहीं। बच्चा जब स्कूल जाता है तो उसको क-ख-ग-घ लिखना नहीं आता है। वह सीखता है, उसे अक्षर ज्ञान होता है। बौद्धिक विकास की प्रक्रिया में वह विषयों को धीरे-धीरे जानने लगता है, उसकी समझ बढ़ती है, उसकी चेतना का विकास होता है। जो बच्चा पहले क-ख-ग-घ तक नहीं लिख सकता था, बड़ा होकर वह किसी राष्ट्र का राष्ट्राध्यक्ष बन सकता है, महान् वैज्ञानिक बन सकता है, महान् संत भी बन सकता है। उसके लिए बस इतना आवश्यक है कि चेतना की विकास-प्रक्रिया से गुजरें, अपनी चेतना, मन, बुद्धि और भावनाओं को विकसित करें। इसी दृष्टि से ईश्वर भी हमारे मन की परिपक्वता का एक अनुभव है। मन की परिपक्वता का परिणाम है ईश्वर के प्रति आकर्षण, ईश्वर का ज्ञान, ईश्वर में आस्था और ईश्वर का दर्शन।

विश्वास और श्रद्धा ही भक्ति के आधार हैं। विश्वास इस बात पर कि मैं अपने जीवन में आनन्द, सुख और प्रवीणता प्राप्त करने में सक्षम हूँ। श्रद्धा इस बात पर कि मैं संसार में अकेला नहीं हूँ, मेरे साथ कोई है जो मेरा अंतरंग मित्र है, जो मेरे पति या पत्नी से भी निकट है, सन्तान से भी निकट है और जो मुझमें है।

श्रद्धा-विश्वास की परीक्षा

हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी ने हमें बचपन में कहानी सुनाई थी कि एक ऐसा देश है, जहाँ नवजात बच्चे को रात को घर से बाहर रख दिया जाता है, चाहे बर्फ पड़े, चाहे ठण्ढी पड़े, चाहे बारिश हो, चाहे गर्मी पड़े। वह शिशु रातभर बाहर की परिस्थिति को झेलता है। अगर सबेरे तक जीवित रहा तो लोग उसको घर में वापिस ले आते हैं।

यह एक रिवाज हुआ जो जन्म के समय होता है। उसी देश में दूसरा रिवाज यह भी है कि जब लड़का सोलह साल का होता है, तो आँखों पर पट्टी बाँध बीहड़ जंगल में ले जाकर लड़के को छोड़ देते हैं। चारों तरफ खूँखार जानवर गुर्राते हैं। कभी शेर की दहाड़ तो कभी चीते की पुकार। लड़के की आँखों पर पट्टी बँधी है। भय से वह ग्रस्त है कि कहीं कोई जानवर मुझ पर आक्रमण न कर दे। सबेरे उसको वापस घर लाते हैं और कहते हैं कि लड़के ने अब पुरुषत्व में प्रवेश कर लिया है।

एक बार एक लड़का इस प्रक्रिया से गुजरने के बाद अपने बाप से पूछता है कि मुझे बताओ, पुरुषत्व को प्राप्त करने के लिए बच्चों को जब जंगल में अकेला छोड़ दिया जाता है, क्या माता-पिता को चिन्ता नहीं रहती कि कोई खूंखार जानवर बच्चे को मार देगा, खा जायेगा? बाप कहता है, 'बेटा, तुम परीक्षा में पास हो गए, इसलिए अब रहस्य को समझाता हूँ। जब आँखों पर पट्टी बाँधकर तुम्हें जंगल में ले जाते हैं तब तुम वहाँ कभी अकेले नहीं रहते हो। तुम्हें लगता है कि तुम अकेले हो, लेकिन तुम से दस कदम दूर अस्त्र-शस्त्र लिए मैं खड़ा रहता हूँ और हिंसक पशुओं से तुम्हारी रक्षा करता हूँ। तुम्हें यह मालूम नहीं चलता कि कोई दस कदम आगे खड़ा होकर तुम्हारी रक्षा कर रहा है।'

हमारे जीवन में भी ऐसा ही होता है। हम सोचते हैं कि अकेले हैं, लेकिन हम कभी अकेले नहीं होते। एक बार एक भक्त, जो ईश्वर का बहुत ही करीबी, जिगरी दोस्त था, ईश्वर से कहता है कि चलिये, थोड़ी सैर कर आते हैं। भगवान ने कहा, 'ठीक है, तुम आगे चलो, मैं तुम्हारे पीछे चलता हूँ।' भक्त कहता है, 'मुझे मालूम कैसे पड़ेगा कि आप मेरे पीछे चल रहे हो?' भगवान कहते हैं, 'जब भी पीछे मुड़ोगे, तुम्हें पैरों के दो चिह्न दिखलायी देंगे, एक जोड़ा मेरा, एक जोड़ा तुम्हारा। उसी से तुमको मालूम पड़ेगा कि मैं तुम्हारे साथ चल रहा हूँ।'

अब भक्त प्रसन्न होकर चलने लगा। नदी पार की, जंगल पार किया, पर्वत पार किया। बहुत बार उसे लगता था कि भगवान उसके पीछे-पीछे चले आ रहे हैं, चलने की आहट सुनायी देती थी। बहुत बार उसको लगता था कि वह अकेला है और मुड़कर देखने पर दो पद-चिह्नों के स्थान पर केवल एक ही दिखलायी देते थे। अंत में वह निराश हो गया, कहा, 'भगवान! तुम अपनी बात नहीं रख रहे हो। तुमने कहा था कि हमेशा मेरे साथ रहोगे, लेकिन बहुत बार जब मैं मुड़कर देखता हूँ, तुम नहीं होते, पैरों का एक ही चिह्न जमीन पर दिखलायी देता है। तुम कहाँ गायब हो जाते हो?'

भगवान कहते हैं, 'देखो, मैं गायब नहीं होता। जब मार्ग कठिन हो जाता है तब मैं तुम्हें उठाकर चलता हूँ। तभी तुम्हें एक ही चिह्न दिखलायी देता है। और जब मार्ग सरल रहता है तब मैं तुम्हें जमीन पर रख देता हूँ। हम दोनों साथ चलते हैं। तब तुम्हें दो पैरों के चिह्न दिखलायी देते हैं।' जब मार्ग सरल होता है तब भगवान मनुष्य को अपने पैरों पर छोड़ देते हैं, 'बेटा तुम चलो,

यहाँ कोई परेशानी नहीं, चलते रहो।' और जहाँ चलना कठिन हो जाता है वहाँ भगवान भक्त को अपनी बाहों में उठा लेते हैं।

इतिहास में जितने भी महान् संत हुए हैं, चाहे जिस सम्प्रदाय, सभ्यता या धर्म से हों, तुम पाओगे कि ईश्वर की अनुभूति उनके जीवन में सतत् होती थी और उस अनुभूति का आधार था श्रद्धा और विश्वास।

सगुण और निर्गुण भक्ति

भक्ति दो प्रकार की होती है, सगुण और निर्गुण। अपरा भक्ति, लौकिक भक्ति सगुण है और परा भक्ति निर्गुण। सगुण का मतलब मन उस बिन्दु पर टिकता है जहाँ तुम किसी गुण या रूप या नाम को देखते हो। आखिर तुम्हारी पहचान कैसे होती है? तुम्हारी पहचान है तुम्हारा नाम। तुम्हारी पहचान है तुम्हारा गुण। और तुम्हारी पहचान है तुम्हारा रूप। नाम, रूप और गुण–ये तीन मनुष्य की पहचान हैं। बिना नाम के तुम्हें कौन पहचानेगा? कुछ भी नाम रख लो, नाम से तुरन्त पहचान में आओगे। आकार विहीन हो जाओ, कौन जानेगा? कोई भी आकार धारण कर लो, तुरन्त आँखों के सामने दिखलायी दोगे। इसी प्रकार गुण के साथ है। यह है सगुण की परिभाषा।

निर्गुण में न नाम है, न रूप है, न गुण है। भक्ति शास्त्र में सबसे उत्तम है निर्गुण भक्ति, उसमें ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए मनुष्य को किसी आधार की आवश्यकता नहीं होती। उत्तम है निर्गुण, पर सहज है सगुण। हमारी आवश्यकता है कि मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित करें। हम ध्यान लगाकर श्वास का ख्याल करते हैं, उस समय हमारा चित्त श्वास-प्रक्रिया में केन्द्रित हो जाता है। भ्रूमध्य में एक प्रतीक पर, चाहे वह ज्योति हो, सूर्य हो या चन्द्रमा, हम अपने मन को केन्द्रित करते हैं, उसकी चंचलता को समाप्त करने के लिए, उसको एकाग्र करने के लिए, शान्त करने के लिए, स्थिर करने के लिए। जिस बिन्दु पर भी हम मन को टिका दें, वह साकार है, सगुण है। सगुण सीढ़ी है निर्गुण की ओर जाने के लिए। अपरा सीढ़ी है परा की ओर जाने के लिए।

सगुण भक्ति में कहा है कि परम-तत्त्व को किसी-न-किसी निश्चित रूप में देखो। नाम हो या रूप, वहाँ तुम स्वयं को केन्द्रित कर पाओगे। चारों तरफ अन्धकार ही अन्धकार है, कुछ दिखलायी नहीं दे रहा है, किस तरफ जाओगे? दूर में रोशनी दिखलायी देती है तो तुम उस रोशनी को ही लक्ष्य

बनाकर अन्धकार में चलते हो। पगडण्डी दिख नहीं रही है, रास्ता दिख नहीं रहा है, लेकिन दूर में टिमटिमाते हुए प्रकाश को लक्ष्य बनाकर अन्धकार में उस ओर चलने लगते हो। प्रकाश संकेत देता है कि तुम्हें किस दिशा में जाना है। अगर प्रकाश नहीं, तो संकेत कहाँ कि हम कहाँ जाएँ? इसी प्रकार सगुण भक्ति संकेत देती है कि तुम्हें कहाँ चलना है। वहाँ पहुँचने पर वही सगुण भक्ति निर्गुण में परिवर्तित हो जाती है, और फिर बाह्य उपासना आन्तरिक हो जाती है।

एक बार एक साधु अपने शिष्य के साथ भ्रमण कर रहे थे। उनका नियम था रोज नहा-धोकर शालीग्राम की पूजा करना। एक बार यात्रा करते समय वे जंगल में रात बिताते हैं। पास में नदी बह रही थी। दूसरे दिन प्रातःकाल गुरुजी अपने चेले को कहते हैं कि तुम पूजा की तैयारी करो, मैं नदी में नहाकर आता हूँ। ऐसा कहकर चले गए। चेले ने पूजा की सब तैयारी कर ली और गुरुजी के लौटने की प्रतीक्षा करने लगा। नदी थोड़ी दूर थी, गुरुजी को जाने, नहाने और आने में समय लग रहा था। इस बीच में चेला साहब को भूख लग गई। देखा चारों तरफ, कौन-कौन से पेड़ हैं। पास में एक बेर का पेड़ दिखलायी दिया। उसने शालीग्राम उठाया और उसे फेंककर बेर गिराने लगा। एक बार इतनी जोर से शालिग्राम पत्थर फेंका कि पता नहीं कहाँ पर गिरा। बहुत ढूँढने पर भी शालिग्राम मिला नहीं। बेचारा चेला बहुत घबरा गया। जिस शालीग्राम की पूजा गुरुजी रोज करते थे, उसी से चेला बेर गिरा रहा था, और अब वह शालीग्राम ही गुम हो गया! दूर से गुरुजी का गेरुआ वस्त्र दिखलायी दिया। अब चेला क्या करे? तुरन्त उसने एक काले बेर को लिया, साफ-सुथरा करके सम्मानपूर्वक शालीग्राम के स्थान पर रख दिया और चुपचाप बैठ गया।

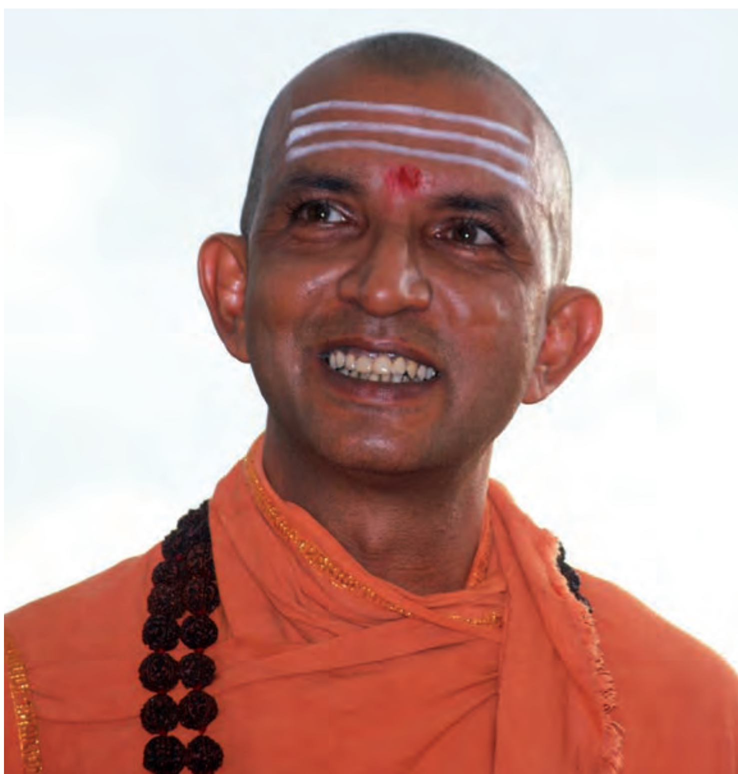
गुरुजी आए और पूजा शुरू की। पहले पानी डाला, फिर चंदन, और फिर बाकी सब विधि-विधान किए। जब शालिग्राम को साफ कर रहे थे तो उसकी जगह रखा बेर पिचक गया। गुरुजी ने चेले की ओर देखकर पूछा, 'शालीग्राम को यह क्या हुआ?' चेला कहता है–

पुनि-पुनि चंदन पुनि-पुनि पानी ।
ठाकुर सड़ गए हम का जानी ॥

'गुरुजी आप बार-बार शालीग्राम को चंदन और पानी से धोते रहे, वह सड़ जाए तो उसके लिए मैं क्या करूँ?'

यह कहानी व्यंग्य के रूप में बतलायी लेकिन मूल बात यह कि अगर तुम किसी जड़ वस्तु से भी सम्बन्ध बनाओ, तो कुछ समय बाद उस जड़ वस्तु में भी चैतन्यता आ जायेगी। क्वाण्टम फिज़िक्स के अनुसार जड़ में चैतन्यता इसलिए आयेगी कि तुम उस पदार्थ में शक्ति का सम्प्रेषण कर रहे हो। तुम्हारी शक्ति का सम्प्रेषण श्रद्धा से युक्त है, भावना से युक्त है, उससे ऊर्जा आती है।

सगुण भक्ति में मन को टिकाने के लिए एक आधार का होना बहुत आवश्यक है। आधार हम किसको बनाएँ? या तो नाम को, या रूप को, या फिर गुण को बनायेंगे। अगर नाम को बनाते हैं तो वह मंत्र होता है। अगर रूप को बनाते हैं तो वह विग्रह होता है। और अगर गुण को आधार बनाते हैं तो जीवन में परिवर्तन के लिए वह प्रेरक शक्ति और तत्त्व का काम करता है। सगुण भक्ति की शुरुआत नाम, रूप और गुण से होती है।



भक्ति के सोपान

प्रातःकालीन सत्र, 6 जुलाई 2009

भक्ति का षड्-वर्गीकरण

हमारे परमगुरु स्वामी शिवानन्द जी बतलाते हैं कि भक्ति का छः प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है। पहला वर्गीकरण है सगुण और निर्गुण भक्ति का। सगुण भक्ति में भक्त या साधक कर्मकाण्ड से जुड़ा रहता है। घण्टी बजाता है, फूल चढ़ाता है, धूप-अगरबत्ती जलाता है, दीप दिखाता है, नैवेद्य चढ़ाता है। यह सब करते हुये भी उसका हृदय, उसकी भावना संकीर्ण रहती है। वह अपने आराध्य को छोड़कर और किसी को पसन्द ही नहीं करता। वह ऐसे लोगों को भी पसन्द नहीं करता जो उसकी मान्यता को नहीं मानते।

निर्गुण भक्ति में व्यक्ति सम्पूर्ण जीवन में ईश्वरत्व का ही अनुभव करता है। उसके लिए किसी मूर्ति या आराधना की आवश्यकता नहीं। भक्त निर्गुण भक्ति में ईश्वरमय हो जाता है और उसके जीवन से प्रेम की अविरल धारा ईश्वर की ओर प्रवाहित होती रहती है। संतों के जीवन में, उनके व्यवहार में हम निर्गुण भक्ति को देखते हैं। उनके जीवन में प्रेम की धारा ईश्वर की ओर ही बहती है। जैसे नदियाँ समुद्र में जाकर अपना अस्तित्व खो देती हैं वैसे ही निर्गुण भक्ति में साधक के अन्तःकरण की समस्त अभिव्यक्तियाँ ईश्वर से एक हो जाती हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, सभी में हमेशा ईश्वर का ही बोध होता है। परा भक्ति में साधक ईश्वर की किसी विभूति को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता, केवल ईश्वर के सान्निध्य की कामना करता है।

स्वामी शिवानन्द जी बतलाते हैं कि भक्ति का दूसरा रूप है विधि और रागात्मिका भक्ति का। विधि भक्ति में ईश्वर के प्रति अनुराग और प्रेम होते हुए भी मनुष्य नियमों और धार्मिक आचरणों का पालन करता रहता है। पर रागात्मिका भक्ति में किसी प्रकार का बन्धन, नियम या कानून नहीं होता। इसके उदाहरण हैं मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु। मीराबाई की भक्ति में कौन-सा बन्धन था? वह राज-कन्या थी। उसने रागात्मिका भक्ति को अपनाकर प्रति क्षण अपने मन को अपने आराध्य से जोड़ा। *'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'*–मेरा कोई और नहीं है, वही मेरे सब कुछ हैं। पति मेरा नहीं है, परिवार मेरा नहीं है, सम्पत्ति मेरी नहीं है, मेरे लिए जो कुछ भी है वह ईश्वर ही है। वही मेरा पति है, वही मेरी सन्तान है, वही मेरा सुख है, वही मेरा सब कुछ है। रागात्मिका भक्ति में किसी प्रकार का नियम, कानून, प्रतिबन्ध या बन्धन नहीं होता। भावना की अविरल धारा आराध्य की ओर हमेशा प्रवाहित होती रहती है।

तीसरे प्रकार की भक्ति है, सकाम और निष्काम। एक भक्ति इच्छा से प्रेरित होती है और दूसरी भावना से। इच्छा से प्रेरित भक्ति है सकाम। मैं कुछ चाहता हूँ। धन चाहता हूँ, वैभव चाहता हूँ, नाम चाहता हूँ, कीर्ति चाहता हूँ, यश चाहता हूँ, सन्तान चाहता हूँ। एक इच्छा को लेकर जो आराधना होती है, उसे सकाम भक्ति कहते हैं। निष्काम भक्ति में कोई इच्छा नहीं होती।

चौथे प्रकार की भक्ति, व्यभिचारिणी और अव्यभिचारिणी होती है। जैसे एक मधुमक्खी अलग-अलग फूलों पर बैठकर उन फूलों के रस को खींचती है, थोड़ा यहाँ से, थोड़ा वहाँ से, वैसी ही प्रवृत्ति व्यभिचारिणी भक्ति में होती है। इस भक्ति में मन एक आराध्य में टिका नहीं रहता बल्कि अनेकों की ओर जाता है। हम सोचते हैं कि अमुक देवता बलवान् होगा, इस मंत्र में मेरे को ज्यादा फायदा है, इस पूजा से अनुग्रह ज्यादा मिलेगा, इस गुरु से कृपा ज्यादा मिलेगी, इस देवता से वरदान ज्यादा मिलेगा। कोई कहता है कि तुम यह मंत्र पढ़ो, तुम्हारा शुभ होगा, तो उसको हम अपना लेते हैं। फिर दूसरा आदमी कहता है कि तुम फलाना मंत्र पढ़ो, तुम्हारा कल्याण होगा, हम उसको भी पढ़ने लगते हैं। दो-तीन साल के बाद मंत्रों का ऐसा संग्रह हो जाता है कि उनको पूरा करने के लिए समय ही नहीं मिलता। मनुष्य सभी मंत्र अलग-अलग कामनाओं के साथ करता है। यह है व्यभिचारिणी भक्ति।

हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं कि अगर तुम्हें जमीन से पानी चाहिए तो एक-एक फुट के पचास गड्ढे मत खोदो। कभी पानी नहीं मिलेगा। तुम एक गड्ढा खोदो, पचास फुट नीचे जाओ, तो पानी मिलेगा। शास्त्रों में भी लिखा है, *'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'*–ईश्वर केवल एक है, वह दो नहीं होता। हम अपनी सुविधा के लिए उसे अनेक रूपों में देखते हैं, लेकिन वह हमारी अपनी व्यक्तिगत भावना है।

ईश्वर वास्तव में एक है। अपने आप को देखिए, आप किसी के पति हैं, तो किसी के पिता हैं, किसी के भाई हैं और किसी के पुत्र हैं। हर व्यक्ति के साथ आपका सम्बन्ध अलग होता है। आप व्यक्ति तो एक हैं, लेकिन कितनी अलग भूमिकाएँ अदा करते हैं। जब मनुष्य इतनी भूमिकाएँ निभा सकता है तो क्या सर्वसमर्थ ईश्वर नहीं कर सकता? अवश्य करता है। ईश्वर एक है, पर अपनी सुविधा के लिए हम उसके विभिन्न नामों और रूपों को अपनाते हैं। लेकिन लक्ष्य के रूप में एक आराध्य, एक इष्ट होना चाहिए। यह है अव्यभिचारिणी भक्ति।

भक्ति में हमेशा विकास होता है। एक उदाहरण देता हूँ। जब राजा उत्तानपाद का बेटा, ध्रुव भगवान की आराधना कर रहा था तो उसमें सकाम भक्ति थी। आराधना क्यों कर रहा था? क्योंकि सौतेली माता ने उसे पिता की गोद में बैठने से मना कर दिया था। तब उसकी माता ने कहा था कि तुम्हारे वास्तविक पिता भगवान हैं, उनकी गोद में बैठो। गोद में बैठने की इच्छा को लेकर ध्रुव ने ईश्वर की सकाम आराधना की थी। लेकिन कालान्तर में सकाम भक्ति निष्काम में परिवर्तित हो गई। जब ईश्वर उसके सामने आये वह सब कुछ भूल गया। उसने यह नहीं कहा कि मुझे अपनी गोद में बैठने का अवसर दो। ईश्वर को देखकर वह मूक हो गया, कुछ बोली ही नहीं निकली। तब ईश्वर ने अपने शंख का स्पर्श उसके होंठों से कराया और शंख का स्पर्श पाते ही वह अनन्य भक्ति की याचना करता है। परिणाम स्वरूप भगवान उसे अटल पद भी प्रदान करते हैं। ध्रुव नक्षत्र के रूप में वह आकाश के एक ही बिन्दु पर हमेशा स्थिर रहता है।

हर व्यक्ति की भक्ति पहले सगुण ही होती है, व्यभिचारिणी ही होती है, अपरा ही होती है, विधि भक्ति ही होती है। बाद में मनुष्य की भावना जब धीरे-धीरे शान्त होती है, चित्त निर्मल होता है, वासनाएँ कम होती हैं, तब भक्ति निर्गुण में, निष्काम में बदलती है। व्यभिचारिणी भक्ति में साधक को

समझ में नहीं आता कि वह किसकी आराधना करे। भगवान को सामने देख कहता है कि तुम्हीं मेरे सब कुछ हो और जब अपनी पत्नी को सामने देखता है तो उसे भी कहता है कि तुम्हीं मेरे सब कुछ हो। बेचारे भगवान भी भ्रमित हो जाते हैं कि कभी मुझे कहता है कि तुम ही सब कुछ हो और कभी यही बात अपने परिवार से कहता है।

खैर, यह तो व्यंग्य में कहा, लेकिन व्यभिचारिणी भक्ति की परिभाषा है कि मन एक रूप से दूसरे में भटकता है और दूसरे को पहले से उच्च और श्रेष्ठ मानता है। धीरे-धीरे अव्यभिचारिणी भक्ति की ओर आना है, जिसमें एक ही कुआँ पचास फुट गहरा खोदें। उसमें पानी अवश्य मिलेगा।

पाँचवा वर्गीकरण गौण और मुख्य भक्ति का है। आत्माओं का पूजन, तत्त्वों का पूजन, प्रकृति की आराधना, ये गौण भक्ति में आते हैं, जबकि मुख्य भक्ति में निराकार परब्रह्म की आराधना आती है।

छठी श्रेणी तामसिक, राजसिक और सात्त्विक भक्ति की है। ये गुणों की प्रधानता से प्रेरित होती हैं। जैसे, सात्त्विक भक्ति में सत्त्व गुण प्रधान रहता है और साधक अपनी स्वार्थपरक कामनाओं को छोड़कर शुद्ध भक्ति का आचरण करता है।

पंच देव पूजन

शास्त्रों में समझाया है कि हर व्यक्ति के जीवन में कोई एक तत्त्व प्रधान होता है, और उस तत्त्व के अनुसार आरम्भ में पंच देवों में से किसी एक का पूजन होना चाहिए। पंच देवता कौन हैं? शक्ति, गणेश, शिव, विष्णु और ब्रह्मा पंच देव माने जाते हैं।

सदा भवानी दाहिने, सम्मुख रहे गणेश ।
पंच देव रक्षा करें, ब्रह्मा, विष्णु, महेश ॥

भक्ति संहिताओं में कहा है कि जिसके जीवन में पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता हो, उसे गणेश की आराधना करनी चाहिए; जिसके जीवन में जल प्रधान है, उसे विष्णु की उपासना करनी चाहिए; जिसमें अग्नि प्रधान है, उसको ब्रह्मा की उपासना करनी चाहिए; जिसमें वायु प्रधान है, उसे शक्ति की आराधना करनी चाहिए और जिसमें आकाश तत्त्व प्रधान है, उसे शिव की आराधना करनी चाहिए। भक्ति शास्त्र में इन पंच देवों की आराधना का उल्लेख है।



शास्त्रोक्त भक्ति साधनाएँ

हमारे शास्त्रों में भक्ति की कौन-सी साधनाएँ बतलाई गई हैं? श्रीमद् भागवत में कहा गया– *'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं, अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्'*। भक्ति साधना के रूप में भागवत में ये नौ विधियाँ बतलाई हैं। पहला है श्रवण, कथा को सुनना। दूसरा है कीर्तन, गुणों का गान करना। तीसरा है स्मरण, नाम को याद रखना। चौथा है पाद सेवन, आत्मभाव को अपनाना। पाँचवाँ अर्चन, अपने कर्म ईश्वर को अर्पित करना। छठा वन्दन, अपने अहंकार को झुकाना, अपने सिर को झुकाना। फिर दास्य, सेवा करना। आठवाँ साख्य, मैत्री भाव रखना। और अंत में आत्म-निवेदन, पूर्ण रूप से अपने आपको समर्पित कर देना।

रामचरितमानस में राम जी द्वारा माता शबरी को निर्देशित नवधा भक्ति का वर्णन आता है–

नवधा भक्ति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं।।
प्रथम भक्ति संतन्ह कर संगा। दूसरी रति मम कथा प्रसंगा।।
गुरु पद पंकज सेवा तीसरी भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।।
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।।

छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोही मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझमें ध्यान लगाना, मेरे नाम का जप करना, मुझमें अपने चित्त को एकाग्र करना भक्ति है। इस प्रकार से श्रीमद् भागवत में, रामचरितमानस में, श्रीमद्भगवद्गीता में और पुराणों में विविध भक्ति साधनाओं का वर्णन आया है।

श्रीमद् भागवत की नवधा भक्ति

भक्ति साधना को भागवत भक्ति शास्त्र में सरल तरीके से समझाया है। इसमें तीन चीजों को महत्त्व दिया गया है–दर्शन, श्रवण और चिन्तन। श्रवण से, दर्शन से और चिन्तन से मन ईश्वर से एकाकार हो जाता है। जैसे किसी भी प्रकार का टेढ़ा-मेढ़ा पात्र क्यों न हो, उसमें जब तरल पदार्थ डालो तो वह तरल पदार्थ उसी पात्र के आकार को ग्रहण कर लेता है। जब तक तरल पदार्थ उस पात्र में रहता है, उसमें तदाकार वृत्ति है। उसी आकार में, उसी रूप में हो गया। इसी तरह जब आप आराध्य के नाम का श्रवण करते हो, आराध्य के गुण का चिन्तन करते हो, आराध्य के रूप का स्मरण करते हो, आराध्य का दर्शन करते हो तो मन आराध्य से तदाकार हो जाता है।

श्रवण, कीर्तन और स्मरण पहली श्रेणी है। उसके बाद दूसरी श्रेणी में है पादसेवन, अर्चन और वन्दन। पहली श्रेणी में नाम मुख्य है। दूसरी श्रेणी में आराधना मुख्य है। और तीसरी श्रेणी है, दास्य, साख्य और आत्मनिवेदन की, जो मनुष्य की श्रद्धा की अभिव्यक्ति है।

भागवत दर्शन में नवधा भक्ति को इन तीन श्रेणियों में बाँटा गया है। और कहा गया है कि अगर श्रवण करोगे तो तुम्हारा चित्त परमेश्वर में रमेगा। कीर्तन करोगे तो तुम्हारा मन उनके नाम और गुण को याद रखेगा। स्मरण करोगे तो जैसे तुम अपने पुत्र को हमेशा याद रखते हो वैसे ही उनकी याद सतत् बनी रहेगी। वे तुम्हारे मन और हृदय में वास करेंगे।

माता अपने छोटे शिशु को साथ रखकर रसोई में खाना पकाती है। शिशु जमीन पर खेलता है और रसोई में माता चाकू लेकर सब्जी काटती है, आग जलाकर पानी गरम करती है, दाल-चावल साफ करती है, अपना सारा काम-

काज करती है। जब पाती है कि उसका शिशु ऐसी जगह चला गया है जहाँ उसको खतरा है, तुरन्त वह अपना काम छोड़कर शिशु को फिर से सुरक्षित कर देती है और पुनः अपने काम में संलग्न हो जाती है। शिशु की यह जो स्मृति बनी रहती है, उसे कहते हैं स्मरण।

हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं कि मैं स्वामी शिवानन्द जी को हमेशा याद नहीं रखता, उनका नाम दिनभर रटते नहीं रहता, लेकिन उनकी उपस्थिति मुझे निरंतर अनुभव होती है। मुड़ता हूँ तो लगता है कि स्वामीजी खड़े हैं। उधर देखता हूँ तो लगता है स्वामीजी चल रहे हैं। जहाँ कहीं देखूँ उन्हीं का रूप मुझे दिखलायी देता है। यह एक शिष्य के जीवन में श्रद्धा की पूर्ण अभिव्यक्ति है–

जहाँ कहीं देखा प्रभु जी की माया ।
सबके दिल में है प्रभु जी की छाया ॥

या तो तुम माया देखो या फिर छाया। संसार के लोग माया को देखते हैं और एक साधु ईश्वर की छाया को देखता है। यही अन्तर है भोग और भक्ति में। भोग में आदमी संसार की ओर देखता है जबकि भक्ति में ईश्वर का सतत् स्मरण होता है। इस तरह भागवत में भक्ति की नौ विधियों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया– नाम महिमा, आराधना और श्रद्धा।

रामचरितमानस में नवधा भक्ति

रामचरितमानस में श्रीराम माता शबरी को कौन-सा सन्देश देते हैं? *प्रथम भगति संतन कर संगा*। सत्पुरुषों का संग पहली भक्ति है। सत्पुरुष कौन है? *संत हृदय नवनीत समाना*– जिसका हृदय नवनीत की भाँति कोमल है, वही सत्पुरुष है। जिसका हृदय पत्थर की भाँति कठोर है, वह दुर्गुणी है। जिसके हृदय में संवेदनशीलता नहीं है, जो किसी की परवाह नहीं करता है, बल्कि दूसरों को प्रताड़ित करता है, ऐसा कठोर हृदय वाला भावना शून्य व्यक्ति संत नहीं हो सकता। कठोर हृदय वाला कभी दूसरे के काम नहीं आता, वह स्वार्थ प्रेरित कार्यों में ही संलग्न रहता है।

जिसका हृदय कोमल है, जिसके प्राण कोमल हो चुके हैं, वही व्यक्ति सत्पुरुष कहलाता है। एक साधु का हृदय मक्खन की भाँति कोमल होना चाहिए। जिसका हृदय कोमल हो चुका है, उसके जीवन में सात्त्विक गुण

अवतरित हो चुके हैं। उसके जीवन में प्रेम, करुणा, संवेदनशीलता, विश्वास और श्रद्धा की धारा प्रवाहित हो चुकी है। ऐसा व्यक्ति कभी किसी के लिए कटु शब्द नहीं कहता, बुरा नहीं सोचता, बुरा नहीं चाहता, आलोचना-प्रत्यालोचना में अपना समय नहीं गँवाता। वह सदा शान्त रहता है और सत्य का अनुसरण करता है। जो व्यक्ति जीवन में सत्य के मार्ग पर चले, वह भक्ति का साधक कहलाता है। सत्य के मार्ग पर चलना ही भक्ति की प्रथम साधना है। सत्पुरुषों के संग से जीवन में सत्य का अन्वेषण होना चाहिए। किसी साधु-संत के साथ समय बिताने से और उसकी अच्छी बातों को सुनने से तब तक कुछ नहीं होता, जब तक तुम उन बातों को अपने जीवन में उतार नहीं पाते। शिक्षाओं को जीवन में आत्मसात् करना बहुत आवश्यक है। तब जाकर पहली भक्ति सिद्ध होती है।

दूसरी रति मम कथा प्रसंगा, यह नवधा भक्ति का दूसरा चरण है। भगवत् कथा केवल कहानी नहीं है, एक शिक्षा है जो जीवन के लिए उपयोगी है। हर कथा में, हर कहानी में न्याय, धर्म, नीति, सौन्दर्य, सद्‌गुणों और संयम की जो शिक्षा है, उसको अपनाओ। तुम तो केवल कहानी सुनकर कह देते हो, बहुत अच्छी कहानी है, लेकिन कभी चिन्तन किया है कि कहानी में निहित शिक्षा को मैं किस प्रकार अपना सकता हूँ? कैसे अपने धैर्य को बढ़ाऊँ? किस प्रकार अपनी श्रद्धा को बढ़ाऊँ? किस प्रकार अपने संयम को बढ़ाऊँ? जब तुम इन बातों को हृदयंगम करोगे, तब भक्ति का दूसरा स्वरूप तुम्हारे जीवन में साकार होगा।

अपने देश में साठ-सत्तर के दशक में अगर कोई लड़का एक अंग्रेजी का उपन्यास हाथ में लेकर निकलता तो लोग उसको पढ़ा-लिखा और आधुनिक मानसिकता वाला मानते थे, और अगर कोई गीता या रामायण अपने हाथ में लेकर चलता तो लोग उसको पुरातनवादी कहते थे। समाज की यह स्थिति भक्ति की दूसरी विधि, *रति मम कथा प्रसंगा,* को नकार देती है। उपन्यास पढ़ोगे तो तुम्हारा मन तामसिक होगा। उपन्यास से कौन-सी शिक्षा लोगे, कौन-से संस्कार प्राप्त करोगे? जब तुम सद्‌ग्रन्थ पढ़ोगे, तो उसकी शिक्षा और संस्कार से तुम्हारा जीवन उन्नत बनेगा।

तीसरी विधि है, *गुरु पद पंकज सेवा*। लोग इसका सामान्य रूप से अर्थ लगाते हैं कि गुरु के चरणों की सेवा करो, लेकिन वह भी बहुत खतरनाक चीज है। किसी गुरु जी के दो चेले थे। गुरु जी दोपहर में आराम कर रहे थे। दोनों



चेलों ने गुरु जी के एक-एक पैर को पकड़ लिया, कहा कि यह पैर मेरा, दूसरा पैर तुम्हारा। तुम मेरे पैर को मत छूना, मैं तुम्हारे पैर को नहीं छूऊँगा। दोनों चरण दबाने लगे गुरु जी के। गलती से एक चेले का हाथ गुरु जी के दूसरे पैर पर पड़ गया। दूसरा चेला आग-बबूला हो गया, 'तुमने मेरे पैर को कैसे छू दिया!' उसने भी जाकर छू दिया। पहला चेला भी नाराज हो गया कि यह मेरे हिस्से का पैर छू रहा है। उसने एक तमाचा मारा गुरु जी के दूसरे पैर पर। दूसरे चेले ने दो तमाचे मारे। अब दो चेलों के बीच में गुरु जी फँसे हैं और उनके पैर तमाचे पर तमाचा खाये जा रहे हैं, क्योंकि चेले आपस में लड़ रहे हैं।

गुरु जी की सेवा ऐसे नहीं होती। '*गुरु पद पंकज सेवा तीसरी भगति अमान*' का मतलब कुछ दूसरा ही होता है। जिस मार्ग पर चलने के लिए गुरु

जी ने तुमको आदेश दिया है, उस मार्ग पर तुम अभिमान रहित होकर, हृदय में यह विश्वास धारण कर चलो कि अगर इस मार्ग पर मैं चलूँगा तो मेरा हित होगा। श्रद्धा-विश्वास से युक्त होकर अभिमान का त्याग करो और गुरु जी के दिये गये निर्देश के अनुसार चलते रहो, चलते रहो, चलते रहो। यह तीसरी प्रकार की भक्ति है।

चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान–बिना कपट के, बिना छल के, बिना अपेक्षा के, बिना स्वार्थपूर्ण चिन्तन के ईश्वर के दिव्य नामों का हमेशा स्मरण करते रहो, गाते रहो, कीर्तन करते रहो। फिल्मी गाने आदमी बहुत ही सरलता से याद कर लेता है और उसी में उसको सुख मिलता है। लेकिन अगर कहा जाए कि भगवान के नामों का कीर्तन करो, तो वहाँ पर आदमी विचलित हो जाता है, 'नहीं भई, यह सब हम से नहीं होगा।' वहाँ धर्म-निरपेक्षता और सेक्यूलरिज़्म जैसी चीजों का ख्याल आ जाता है। फिल्म का गाना सेक्यूलर हो जाता है लेकिन ईश्वर का नाम सेक्यूलर नहीं माना जाता। लोग किसी दर्शन या विचार के बारे में राय देते हैं कि यह धार्मिक है या सेक्यूलर, लेकिन यहाँ पर किसी दर्शन या विचार के बारे में नहीं, मनुष्य के एक सम्बन्ध के बारे में कहा जा रहा है।

ईश्वर अल्लाह वाहे गुरु, चाहे कहो श्री राम ।
मालिक सबका एक है, अलग-अलग हैं नाम ॥

यह अनुभूति होती है यहाँ पर। छल-कपट को छोड़कर ईश्वर के चिन्तन, स्मरण और कीर्तन में अपने मन को प्रवाहित कर देना।

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा, पंचम भजन सो बेद प्रकासा–मंत्र का जप और शास्त्रों की शिक्षा। हमारे योग दर्शन में कहा जाता है कि मंत्र एक ऐसी शक्ति है जो मन को कामना, इच्छा और वासना के बन्धनों से मुक्त करके शान्ति दिलाती है। *मननात् त्रायते इति मंत्रः*–मंत्र वह शक्ति है जो मन को बन्धन से मुक्त कर दे। मन के बन्धन कौन-से होते हैं? कामनाएँ और वासनाएँ। जो तुम सोचते हो, जो तुम चाहते हो, जिसको तुम प्राप्त करना चाहते हो, वही तो मन का बन्धन होता है। कामना ही मन का बन्धन है। अगर तुम कुछ चाहते हो तो उसके लिए पहले चिन्तन आरम्भ होता है और वह चिन्तन धीरे-धीरे चिन्ता में बदल जाता है। जब चिन्ता में मन बँधता है, उस समय मन की आन्तरिक स्पष्टता समाप्त हो जाती है, क्योंकि चिन्ता मन को

एक विषय में, एक वस्तु में, एक विचार में बाँध देती है। वह मन को मुक्त नहीं होने देती। मंत्र मन को मुक्त कर देता है चिन्ता से। इसलिए कहा गया, *मननात् त्रायते इति मंत्रः*। अगर तुम चिन्तामुक्त होकर, शान्त मन से ईश्वर के मंत्रों का जप करोगे तो वह भक्ति की एक स्थिति है।

छठ दम सील बिरति बहु करमा, निरत निरंतर सज्जन धरमा– छठी भक्ति है दम, शील, वैराग्य तथा सज्जनता में निरन्तर लगे रहना। यहाँ पर जो मूल चीज है वह है सज्जनता। मनुष्य में दो तत्त्व होते हैं, एक पशुता और दूसरा सज्जनता। सामान्य रूप से पशुता ही प्रकट होती है, काम, क्रोध, द्वेष, घृणा, लोभ, मद और मात्सर्य के रूप में। लेकिन जब जीवन में सज्जनता प्रकट होती है तब सौम्यता आती है। सज्जनता का प्रतीक विद्वत्ता नहीं, सौम्यता है। सज्जनता का प्रतीक उत्तेजना नहीं, शान्ति है। इसलिए अपने जीवन में सज्जनता के धर्म को धारण करना है, शील को अपनाना है, एक ऐसे चरित्र को अपनाना है जो तुम्हारे जीवन के उत्थान में सहायक हो सके।

सातवँ सम मोही मय जग देखा, मोतें संत अधिक करि लेखा– यहाँ पर ईश्वर की सर्वव्यापकता का बोध होता है। सभी में ईश्वर की अनुभूति होनी चाहिए और ईश्वर की इस अनुभूति में अहंकार को बीच में नहीं आना है। अहंकार का नाश बहुत कठिन होता है। उपलिब्ध का अहंकार हो जाता है और यही अहंकार साधक के पतन का कारण बनता है। इसलिए जो सरल भाव से ईश्वर के अस्तित्व को सभी में देखने की भावना रखता है, वही भक्त कहलाता है।

आठवँ जथालाभ संतोषा, सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा– भक्ति के आठवें चरण में संतोष और परदोष-दर्शन से परहेज का निर्देश दिया गया है। संतोष का अर्थ है अपने जीवन में संतुष्टि का अनुभव करना। जो है, उसे ईश्वर का प्रसाद मानना, और जो नहीं है उसके लिए व्यर्थ की कामना नहीं करना। दोष को नहीं देखना। जब तुम पूरे जगत् को ईश्वर-स्वरूप देख रहे हो, तो दोष कैसे दिखेगा? दोष तो वहाँ दिखेगा जहाँ ईश्वर का अभाव रहेगा। पहले कहा गया कि मेरे ही रूप को सब जगह देखो और उसके बाद कहा जा रहा है कि दोष मत देखो। यह कितना सुन्दर मनोविज्ञान है।

नवम सरल सब सन छलहीना, मम भरोस हियँ हरष न दीना– छलहीन होना, सरल होना, ईश्वर पर भरोसा रखना, हर्ष और विषाद से अलग रहना, यह नवधा भक्ति का अंतिम चरण है। एक शब्द में कहा जाए तो यह ईश्वर-

प्रणिधान ही है। ईश्वर-प्रणिधान की अवस्था में विश्वास रहता है, भरोसा रहता है, क्योंकि वह विश्वास किसी बाह्य वस्तु पर नहीं, स्वयं पर आश्रित रहता है। सृष्टि में ईश्वरत्व का अनुभव करने के बाद, खुद में ईश्वरत्व का अनुभव करने के बाद, विश्वास ही रहता है। यह विश्वास की अन्तिम अवस्था है, जिसे कहा जाए विश्वास से ओत-प्रोत हो जाना। जब तुम समुद्र में डुबकी लगाकर पूरी तरह भीग हीं गए तो फिर पानी से क्या डरना!

जीवन की फाइन-ट्यूनिंग

ये सब बातें जो हम कर रहें हैं, इनमें से बहुत सारी चीजें जीवन में साधना से नहीं, सुव्यवस्था से प्राप्त होती हैं। अपने जीवन को थोड़ा व्यवस्थित कर लो तो भक्ति प्राप्त हो जाएगी। अपने चरित्र और व्यवहार के प्रति थोड़ा सजग बन जाओ, उन्हें अच्छे-से-अच्छा करने का प्रयास करो, वह भक्ति बन जायेगी। अपने जीवन से, अपने मन से छल और कपट को दूर करने का प्रयास करो, भक्ति सिद्ध हो जायेगी। अगर तुम अपने मन और भावनाओं की फाइन-ट्यूनिंग कर सकते हो तो आँख बन्द करके ईश्वर के विग्रह के सामने बैठने की आवश्यकता नहीं। अगर तुम अपने मन और हृदय को संवेदनशील बना सको, उन्हें अच्छाई से जोड़ सको, सद्‌गुणों से जोड़ सको तो वह भक्ति है।

वेदों में भक्ति

शास्त्रों में कहा है, *'श्रद्धया सत्यमाप्यते'* अर्थात् श्रद्धा के द्वारा सत्य की प्राप्ति होती है, भक्ति सिद्ध होती है। ऋग्वेद में कहा है, *'श्रद्धे श्रद्धापयेह नः'* – 'माता श्रद्धा! तुम मेरे हृदय में निवास करो।' श्रद्धा का आवाहन पहले, उसके बाद ऋग्वेद कहता है, सत्संग। सत्संग या सत्संगति किसकी होनी चाहिए? उदार स्वभाव वाले की होनी चाहिए। दोषरहित, विवेकी, विचारशील और ज्ञानी व्यक्ति की संगति होनी चाहिए। अगर एक साधारण लकड़ी को चंदन की लकड़ी के साथ रख दो तो कुछ समय बाद उस साधारण लकड़ी में भी चंदन की सुगन्ध आ जायेगी। यह सत्संगति का परिणाम है। सत्संग द्वारा अपनी कलुषता को दूर करो।

आगे कहा है कि अद्रोह की स्थिति होनी चाहिए अर्थात् द्रोह का अभाव हो। शुक्ल-यजुर्वेद में *'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'* कहा गया है। मन में भाव रहे कि मैं हितकर, मधुर दृष्टि से समस्त प्राणियों को देखता

हूँ। किसी के प्रति द्रोह या द्वेष का भाव नहीं, सभी के प्रति मेरी दृष्टि मधुर और हितकर है। यह अद्रोह की मानसिकता है।

अपने सामर्थ्य के अनुसार सब की भलाई करना भक्ति है। अथर्ववेद में कहा है– *'शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर।'* सौ हाथों के उत्साह और प्रयत्न के द्वारा तुम अपने लिए वैभव का सम्पादन करो, धन का अर्जन करो और हजार हाथों द्वारा उसका वितरण करो। सौ हाथों से लो और हजार हाथों से दो, यह भक्ति का नियम है। उदारता और दानशीलता के बिना भक्ति सिद्ध नहीं होती। हजारों सालों से लोग घण्टी बजा रहे हैं, नाम जप रहे हैं, लेकिन किसने भक्ति का अपने जीवन में साक्षात् अनुभव किया है? तुम जानते हो अच्छे से। लोग भक्ति को देवालय की चार दीवारों तक सीमित कर देते हैं और उसको जीवन की एक अवस्था और व्यवस्था के रूप में नहीं अपनाते। भक्ति को जीवन की अवस्था के रूप में अपनाओ ताकि तुम्हारे सभी व्यवहार भक्तिमय हो जाएँ। जब सभी व्यवहार भक्तिमय होते हैं तभी मनुष्य का उत्थान होता है।

माध्वीर्गावो भवन्तु नः–जीवन में हमेशा संयम बना रहे। मुझसे कभी असंयमित, अविवेकी कार्य न हो, जीवन में संयम हो। यह ऋग्वेद का वचन है। योग शास्त्र में बताया है कि संयम के लिए सजगता को लाना है, ध्यान करना है, अपने विचारों का द्रष्टा बनना है, अपने कर्मों का नियंता बनना है।

अथर्ववेद में कहा है कि भक्ति को सिद्ध करने के लिए जीवन के छः दोषों को दूर करो। पहला दोष मोह है। मोह का स्वरूप क्या है? स्वामी शिवानन्द जी कहते हैं कि जैसे उल्लू को दिन में दिखाई नहीं देता, वह सिर्फ रात में ही देख पाता है, उसी तरह मोह भी दिवांध उल्लू के समान है। मोह के आवेश में हम धर्म और न्याय के प्रति अंधे हो जाते हैं। इसलिए पहले मोह पर विजय प्राप्त करो।

क्रोध दूसरा दोष है। स्वामी शिवानन्द जी कहते हैं कि क्रोध भेड़िये के समान है, हमेशा सबको खाने के लिए, चबाने के लिए, काटने के लिए तैयार। भेड़िया जंगली जानवर है और क्रोध भी जंगली है। उसमें कौन-सा विवेक है? लेकिन कुछ लोग हैं जो इस जंगली स्वभाव को बदल देते हैं।

क्रोध के दो रूप होते हैं, एक जो मनुष्यों के बन्धनों को काटता है, दोषों का निवारण करता है, कर्म का क्षय करता है और मुक्ति दिलाता है। और दूसरा, जो मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है। पहले रूप को क्रोध माना जाए क्या? अगर गुरु जी हम पर क्रोध करते हैं तो उसका कारण द्वेष या घृणा

नहीं, बल्कि हमारी कमी-कमजोरी को दूर करने की इच्छा है। जब कोई सामान्य आदमी क्रोध करता है तो वह इतना उत्तेजित हो जाता है कि अपने संयम को नष्ट कर देता है। इसी क्रोध को भेड़िये के समान कहा गया है, जिस पर विजय प्राप्त करनी है।

तीसरा दोष है मात्सर्य, जिसका स्वभाव कुत्ते जैसा है। इसको अपने वश में रखो। चौथा है काम। काम-वासना चकवा-चकवी के समान है। शास्त्रों में कहा है कि चकवा-चकवी रूपी काम पर विजय पाओ। फिर गरुड़ के समान आचरण करने वाले मद पर विजय प्राप्त करो। अंत में गिद्ध के समान आचरण करने वाले लोभ का सदुपायों द्वारा नाश करो। मोह, क्रोध, मात्सर्य, काम, मद और लोभ, इन छः दोषों को तुम ठीक कर लो, भक्ति स्वतः हो जायेगी। ये ही भक्ति मार्ग के बाधक हैं।

प्रपत्ति

भक्ति को सिद्ध करने का केवल एक उपाय है, प्रपत्ति या शरणागति। ईश्वर से मिलने की प्रबल भावना, प्रबल व्यग्रता को प्रपत्ति कहा है। प्रपत्ति में, शरणागति में, समर्पण की अवस्था में भक्त ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई चिन्तन नहीं करता है।

एक बार सम्राट् अकबर जंगल में शिकार कर रहे थे। नमाज का समय हो गया। वे अपनी चादर बिछाकर नमाज के लिए बैठ गए। जब वे नमाज अदा कर रहे थे, एक भील युवती कहीं से आई और सम्राट् अकबर की चादर पर पैर



रखते हुए आगे निकल गई। सम्राट् अकबर नमाज करते रहे। नमाज पूरी होने पर अपने सैनिकों को आदेश दिया कि युवती को पकड़कर लाओ। सैनिकों ने उस युवती को सम्राट् के सामने हाजिर कर दिया।

सम्राट् अकबर कहते हैं, 'अन्धी हो क्या? देखा नहीं कहाँ चल रही हो? मैं नमाज पढ़ रहा था और तुम मेरी चादर के ऊपर से निकल गई। तुम्हें चादर दिखी नहीं?' युवती डर से काँप रही थी। उसने काँपते हुए स्वर में कहा, 'महाराज, क्षमा कर दें, गलती हो गई। आगे फिर ऐसी भूल नहीं होगी।' सम्राट् ने पूछा, 'उस समय तुम सोच क्या रही थी जो तुम्हें कुछ दिखा नहीं?'

युवती कहती है, 'महाराज, सच कहूँ तो बुरा मत मानियेगा। मैं अपने प्रेमी का स्मरण करते हुए उससे मिलने के लिए जा रही थी। मुझे मालूम नहीं था कि मेरे कदम कहाँ पड़ रहे हैं। मेरी नजरों में मात्र मेरे प्रेमी की ही छवि थी। हृदय में प्रेमी से मिलने की प्रबल व्यग्रता थी। आप भी तो अपने प्रेमी से प्रेम अदा कर रहे थे, लेकिन आपकी नजरें सब तरफ थीं, जबकि मेरी नजरें केवल अपने प्रेमी की ओर टिकी थीं और इसीलिए मुझसे गलती हो गई।'

जब सम्राट् अकबर ने यह सुना तो उनकी आँखें खुल गईं। कहा, 'इस युवती को धन देकर विदा करो, इसने मुझे बतलाया है कि प्रेमी से लगाव कैसा होना चाहिए।' भक्ति में मनुष्य को पूरी तरह तन्मय होना चाहिए। काम-वासना में जिस प्रकार की तन्मयता रहती है वैसी तन्मयता ईश्वर-भक्ति में आ जाए तो मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

प्रपत्ति के दो भेद माने हैं, एक शरणागति और दूसरा आत्म-समर्पण। भक्ति करना भक्त के अधीन है लेकिन प्रपत्ति पाना ईश्वर के अधीन है। जब उसकी इच्छा होगी तब। लेकिन अगर तुम तैयार हो तो देर नहीं लगेगी। जब नौकरी की इंटरव्यू के लिए जाते हो तो सभी डिग्रियाँ-कागज ले जाते हो न! इंटरव्यू लेने वाला पहले सब कागजों को देखता है, फिर तुमसे बात करता है। अगर तुम बिना किसी कागज के जाओ, बिना किसी तैयारी के जाओ, तो क्या होगा? इंटरव्यू लेने वाला कहेगा कि वापस जाओ, जब सब कागज मिल जाएँ तब आना।

भक्ति सिद्ध करना हर व्यक्ति का अपना निश्चय है, निर्णय है, धर्म है। अगर भक्ति में षड्-दोषों का निवारण नहीं करते और प्रपत्ति-शरणागति-समर्पण को पाने का प्रयास नहीं करते तो भक्ति की कोई उपयोगिता नहीं रहती। खाना खाओगे तो पेट भरने के लिए खाओगे न? पानी पीयोगे तो

प्यास बुझाने के लिए पीयोगे न? उसी प्रकार भक्ति करोगे तो उसका उद्देश्य शरणागति और आत्म-निवेदन होना चाहिए।

शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर की धारणा से, ईश्वर को लक्ष्य बनाकर भक्ति शुरू होती है। लेकिन तुम्हें शरणागति और आत्म-समर्पण के लिए स्वयं को तैयार करना है। जब तुम जीवन के विकारों को हटा पाओगे तब ईश्वर स्वतः तुम्हें प्रपत्ति प्रदान करेंगे। जो प्रपन्न है वह समझता है कि मैं भगवान का हूँ, इसलिए भगवान ही मेरा ख्याल करेंगे। भक्ति करना भक्त के हाथ है, लेकिन प्रपत्ति को सिद्ध करना, शरणागति को सिद्ध करना, समर्पण को सिद्ध करना ईश्वर के हाथ है। इसलिए भक्त के मन में केवल यही भावना होनी चाहिए–

अब तो दी है नैया नदी में बहा, जा लगी जिस किनारे चले जाएँगे।
अब तो करुणा की जब भी चलेगी हवा, जा लगी जिस किनारे चले जाएँगे।।



व्यावहारिक भक्ति साधना

संध्याकालीन सत्र, 6 जुलाई 2009

भक्ति योग का भाव है कि आदमी स्वयं को पूर्णरूपेण समर्पित कर दे, अन्दर से खाली कर दे। एक बार राधा श्रीकृष्ण से प्रश्न करती हैं कि आपको मुरली क्यों पसन्द है, हमेशा उसको अपने पास रखते हैं, हमेशा उसको अपने होठों से लगाये रहते हैं। आखिर मुरली आपको इतनी पसन्द क्यों है? कृष्ण जी कहते हैं, 'मुझे मुरली इसलिए पसन्द है कि वह अन्दर से खाली है। उससे मैं जिस स्वर को चाहूँ, निकाल सकता हूँ।'

स्वयं को खाली करना, स्वयं को वासनाओं से, स्वार्थ से, जीवन के घृणित कर्मों से मुक्त करना, यही भक्ति मार्ग में साधक का प्रयास होना चाहिए। मैं यहाँ पूजा-पाठ या कर्म-काण्ड की शिक्षा नहीं दे रहा हूँ, भक्ति योग के बारे में बतला रहा हूँ। पिछले तीन दिनों से भक्ति योग की विधियों द्वारा अपनी भावना को अपने आराध्य की ओर प्रेषित करने की बात हो रही है।

हमारे भक्ति शास्त्रों में अनेक प्रकार के उपाय दिए हैं। अपने जीवन में भक्ति को सिद्ध करने के लिए जो उपाय श्रीराम ने माता शबरी को बताये थे, वे बहुत सहज और व्यावहारिक हैं। श्रीराम कहते हैं कि सबसे पहले संगति पर ध्यान दो। अच्छी संगति रहेगी तो मन अच्छा होगा, विचार अच्छे होंगे। अच्छे विचारों से युक्त रहो ताकि किसी के प्रति कलुषता जन्म न ले, और ईश्वर में प्रेम रहे, ईश्वर में रति रहे। अभिमान का त्याग कर गुरु की शिक्षाओं को जीवन में आत्मसात् करो। मंत्र जप करो। चित्त को अपने आराध्य से जोड़ो।

नवधा भक्ति की शिक्षा प्रासंगिक शिक्षा है, जिसका हमारे दैनिक जीवन में महत्त्व है। अगर एक सूखी लकड़ी को चंदन की लकड़ी के साथ रख दो

तो कुछ समय बाद उस सूखी लकड़ी में भी चंदन की सुगन्ध आ जाती है। यह संगति का परिणाम है। अगर तुम्हारे चारों तरफ अच्छे व्यक्ति और अच्छे विचार रहें, तो तुम्हारा चिन्तन, आचरण और व्यवहार भी अच्छा होगा, वही तुम्हारे जीवन की अभिव्यक्ति रहेगी। अगर तुम बुरे वातावरण में, निकृष्ट वातावरण में, संकीर्ण विचारों से युक्त होकर जीओगे तो पूरा जीवन संकीर्ण ही होगा। इसलिए कहा है कि सत्पुरुषों की संगति होनी चाहिए। जो सत्त्वगुण से युक्त है, उसे सत्पुरुष कहा जाता है। यह आवश्यक नहीं कि सत्पुरुष ज्ञानी हो या गुरु हो या मुक्त हो, वह एक सामान्य व्यक्ति हो सकता है। बस उसका सम्बन्ध अपने जीवन की सात्त्विक अभिव्यक्ति से हो, तामसिक या राजसिक से नहीं।

गीता में भक्ति साधना

व्यवहार में परिवर्तन लाना भक्ति का एक रूप है जो राम जी ने बतलाया। अपनी भावनाओं को एकाग्र करने के लिए कृष्ण जी भक्ति साधना का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि अपने मन को श्वास से जोड़कर ॐ का ध्यान करो। श्वास लो, श्वास छोड़ो, ॐ का ध्यान करो। गीता में कृष्ण जी ने अन्य विधियाँ भी बताई हैं। जप योग बतलाते हुए कहते हैं कि वह एक विधि है जिसके द्वारा मानसिक वृत्ति को अपने आराध्य से एकाकार किया जा सकता है। श्रीकृष्ण के जप योग का तरीका साधनात्मक है। बैठकर अपनी शारीरिक इन्द्रियों को पहले शान्त करो। इसलिए एकान्त में बैठो जहाँ पर बाहर का वातावरण तुम्हारी इन्द्रियों को प्रभावित नहीं कर सकता, विचलित नहीं कर सकता, चंचल नहीं बना सकता। उसके बाद अपने मन को एकाग्र करो। अपने मन को नासिका के अग्र भाग पर या भ्रूमध्य में लगाओ, अर्थात् नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास करो या भ्रूमध्य दृष्टि का। नासिकाग्र या भ्रूमध्य में ध्यान को केन्द्रित रखते हुये श्वास का ख्याल करो और श्वास के साथ मंत्र का जाप करो। कृष्ण जी का यह तरीका ध्यान सहित जप है।

दूसरा तरीका, सहज भाव से दिन में चलते-फिरते, खाते-पीते, टहलते-दौड़ते सोऽहं मंत्र, गायत्री मंत्र, ॐकार मंत्र या महामंत्र का जप हो सकता है। यह ध्यान रहित जप हुआ जो सहज है। पहला था ध्यान सहित जप जिसमें अपनी इन्द्रियों और मन को शान्त कर चित्त को आराध्य के प्रतीक पर केन्द्रित करके मंत्र का जप करते हैं। ये दो प्रकार के अभ्यास श्रीकृष्ण बतलाते हैं।



श्रीकृष्ण ने गीता में भक्ति की जो पद्धति बतलाई है वह योग शास्त्र के अनुसार बतलाई है। उन्होंने साधनात्मक पद्धति और भक्त के लक्षण बतलाए हैं। उन्होंने श्रवण, मनन, कीर्तन या भजन के बारे में स्पष्ट रूप से नहीं कहा, लेकिन सब को स्वीकार किया। उनसे जब पूछा गया–

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा:॥

'भगवन् बताओ कि तुम्हें साकार और निराकार रूप में पूजने वालों में कौन श्रेष्ठ है?' इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि दोनों ही बराबर हैं, दोनों तरीकों से ईश्वरत्व को ही प्राप्त करोगे। चाहे तुम साकार मार्ग पर चलो या निराकार मार्ग पर, मुझे ही प्राप्त करोगे। चाहे तुम छोटा रास्ता लो या लम्बा, अन्त में लक्ष्य तो तुम्हारा वही है। लक्ष्य को प्राप्त करने वाले में कुछ योग्यताएँ और गुण होने चाहिए। गुणों का उल्लेख कृष्ण जी ने बारहवें अध्याय में किया है।

कृष्ण जी ने हर प्रकार की उपासना को स्वीकार किया है। कोई मूर्ति पूजा करता है करे, कोई भजन-कीर्तन करता है करे, जो तुम्हारी पद्धति है वह करो, लेकिन ध्यान सहित जप या ध्यान रहित जप भी निश्चित किया करो।

जप में या तो तुम ॐकार करो, या गायत्री करो या महामंत्र करो या और कोई मंत्र करो जो तुम्हें गुरु से प्राप्त है।

जप मन के लिए खूँटी होती है। हमारे स्वामीजी एक कहानी सुनाते हैं। ऊँटों का एक कारवाँ रेगिस्तान में जा रहा था। शाम का समय हो गया, कारवाँ रुक गया। सब अपना तम्बू लगाने लगे, ऊँटों को बाँधने लगे, रात के लिए तैयारी करने लगे। लेकिन सभी ऊँटों को बाँधने पर एक ऊँट को नहीं बाँध पाए, क्योंकि खूँटी और रस्सी गुम हो गई थी। क्या किया जाए? ऊँट को नहीं बाँधें तो रात को भाग जाएगा। उस कारवाँ में एक बुजुर्ग व्यक्ति था। उसने कहा, 'रस्सी नहीं है, कोई बात नहीं। ऊँट के पास जाकर तुम अभिनय करो कि तुम उसे बाँध रहे हो।'

एक आदमी ऊँट के पास गया, अभिनय किया कि ऊँट के गले में रस्सी डाल रहा है, खींच के बैठा रहा है, जमीन खोदकर खूँटी डाल रहा है, रस्सी को खूँटी में बाँध रहा है। ऊँट चुप-चाप बैठ गया। अगले दिन यात्रा के लिए कारवाँ तैयार होता है, तम्बू उठ जाते हैं, ऊँटों पर लाद दिए जाते हैं, लेकिन एक ऊँट उठता ही नहीं है। कितना ही डण्डा क्यों न मारें, कितनी ही पिटाई क्यों न करें, लेकिन वह ऊँट उठे ही नहीं। तब बुजुर्ग आया और बोला, 'तुमने इस ऊँट को खोला? जैसे इसे बाँधने का अभिनय किया, वैसे अब इसे खोलने का अभिनय करो।' जैसे ही ऊँट को खोलने का अभिनय पूरा होता है ऊँट तुरन्त खड़ा हो जाता है!

इसी प्रकार मंत्र और मन है। मन को एक खूँटी चाहिए टिकने के लिए और वह खूँटी मंत्र है। मंत्र करने के तीन तरीके हैं। उत्तम तरीका है मानसिक, मन में ही बोलना। मन में ही तदाकार वृत्ति का जन्म होना है, इसलिए मन में ही बोलो। अगर मानसिक जप करते-करते मन अन्तर्मुखी हो जाए और अन्तर्मुखता के कारण नींद आने लगे तब उस समय अपनी चेतना को पुनः मंत्र के साथ जोड़ने के लिए बुदबुदाना शुरू करो। होठों को हिलाओ, मंत्र को बुदबुदाओ और मंत्र के प्रति अपनी सजगता को बनाए रखो। अगर फिर भी तन्द्रा से मुक्त नहीं हो पाते हो तो मंत्र बोलना शुरू करो। मंत्र जप के ये तीन तरीके हैं–मानसिक, उपांशु और बैखरी। मानसिक–मन में बोलो, उपांशु–बुदबुदाकर बोलो, और बैखरी–मुँह से बोलो।

कृष्ण जी प्रत्याहार की शिक्षा भी देते हैं। कहते हैं कि जैसे एक कछुआ अपने अंगों को अपने कवच में समेटता है वैसे ही मनुष्य अपनी इन्द्रियों को

समेटे। कछुए के दो पैर, दो हाथ, एक पूँछ और एक सिर कवच के बाहर होते हैं, जिनको वह समेटता है। गीता में कहा है कि जीव की छः इन्द्रियाँ होती हैं–*मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*–पाँच इन्द्रियाँ और एक मन जिसे छठी इन्द्रिय माना है। ये इन्द्रियाँ कछुवे के अंगों की तरह कवच से बाहर हैं। यह कवच आत्मा का कवच है। आत्मा के कवच से पाँच इन्द्रियाँ और एक मन बाहर निकला है। इनको समेटने पर हम अपने आपमें समाहित हो जाते हैं। जब तक इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, संसार से हमारा व्यापार होता है। जब तक तुम संसार से जुड़े हो, तुम्हारी इन्द्रियाँ बाह्य रहेंगी। जब तुम आँखों को बन्द करके परमात्मा का चिन्तन करोगे तब तुम्हारी इन्द्रियाँ आन्तरिक हो जाएँगी। इसको प्रत्याहार कहते हैं, अपनी इन्द्रियों को, बाह्य अभिव्यक्तियों को समेटना।

साधनात्मक भक्ति योग की प्रक्रिया में कृष्ण जी ने प्रत्याहार और जप योग की शिक्षा दी है। राम जी की हुई व्यवहारात्मक पद्धति, किस प्रकार अपने जीवन में परिवर्तन को लाया जाए। भागवत में बतलाया है–'*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं, अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।*' इसमें श्रवण, कीर्तन और स्मरण, एक वर्ग है। पादसेवन, अर्चन और वन्दन, दूसरा वर्ग है। दास्य, साख्य और आत्मनिवेदन, तीसरा वर्ग है। दास्य, साख्य और आत्मनिवेदन से श्रद्धा विकसित होती है। अपने आराध्य के साथ सम्बन्ध में कलुषता नहीं होती।

भक्ति का कर्मकाण्डी रूप भी संसार में देखते हैं। हर व्यक्ति अपने घर में छोटा-सा मन्दिर रखता है, अपने आराध्य का चित्र या मूर्ति रखता है, उसकी पूजा करता है, रोज एक फूल चढ़ा देता है, एक अगरबत्ती जला देता है। वह भी एक अनुशासन है, नियम है। जब तुम कर्मकाण्ड करते हो तो तुम्हारे मन को सुख मिलता है, शान्ति मिलती है। अगर कोई परेशानी है तो सान्त्वना भी मिलती है कि मैंने अपनी परेशानी भगवान के सामने रख दी है। आत्मीय सहजता के कारण, आन्तरिक सहजता के कारण इस प्रकार की आराधना होती है और यह मान्य है।

स्वामी शिवानन्द का अष्टांग योग

संतों के जीवन में अलग प्रकार की भक्ति दिखलाई देती है। हमने आपको बताया है कि भक्ति का अर्थ आराधना नहीं, बल्कि सेवा और प्रेम है। हमारी



परम्परा में सेवा और प्रेम को भक्ति माना गया है। स्वामी शिवानन्द जी का अष्टांग योग आरम्भ होता है सेवा से। पहला अंग है सेवा, दूसरा प्रेम, तीसरा उदारता, चौथा आन्तरिक शुद्धता, पाँचवें में अच्छे गुणों से युक्त होना, छठवें में सकारात्मक अभिव्यक्ति का होना, सातवें में अपने चित्त को परमेश्वर में केन्द्रित करना और आठवें में जीवन में परमेश्वर के अस्तित्व का अनुभव करना। ये आठों भक्ति के ही अंग हैं, जिनकी शुरुआत होती है सेवा और प्रेम से। उदारता भी भक्ति का अंग है, सौ हाथ से लो, हजार हाथ से दो। जब ऐसा करने में सक्षम हो जाते हो तब तुम्हारे भाव पवित्र हो जाते हैं। तुम्हारी भावना शुद्ध हो जाती है, निर्मल हो जाती है।

हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं कि सभी योगों के अन्त में शिवानन्द योग को आत्मसात् करना है। हठयोग कर लो, राजयोग कर लो, कुण्डलिनी योग कर लो, क्रिया योग कर लो, ध्यान योग कर लो, मंत्र योग कर लो, जितने भी योग हैं, सब कर लो, लेकिन अन्त में भक्ति मार्ग का ही आश्रय लेना होगा। हमारे गुरु जी कहते हैं कि मैंने बहुत पढ़ा, बहुत खोजा, लेकिन पूर्णता का अनुभव तब हुआ जब मैंने भक्ति मार्ग का अनुसरण किया।

आत्मभाव की जागृति

आत्मभाव भक्ति का आधार है। स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं आत्मभाव को जागृत करो। जब तक तुम दूसरों के प्रति संवेदनशील नहीं होगे, तुमसे

कुछ होने वाला नहीं है। तुम समाज का उत्थान करना चाहते हो लेकिन संवेदनशील तो हो नहीं। तुम संवेदनशील हो अपनी जेब के प्रति– *चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय*। जेब में सौ हैं, पर दस निकालने में तुमको दिक्कत होती है। तुममें उदारता का चिह्न ही नहीं दिखलाई देता।

आत्मभाव प्राप्त करना कठिन नहीं है, यह कर्त्तव्यपरायणता, प्रेम, उदारता और ईश्वरत्व की अनुभूति से विकसित होता है। एक उदाहरण देता हूँ। तुम्हारे घर में अगर कोई वस्तु इधर से उधर हो जाए, तुम यह नहीं कह सकते कि मेरी जिम्मेवारी नहीं थी। तुम्हारे घर में तुम भी उतने ही जिम्मेदार हो जितने तुम्हारे माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी या भाई-बहन। तुम यह नहीं कह सकते कि इस घर में जिम्मेदारी दूसरों की है। घर में चाहे कितने ही लोग रहें, अगर कुछ हो जाए तो हर व्यक्ति जिम्मेदार है। क्यों? आत्मभाव के कारण, अपनत्व के कारण। घर से बाहर निकलते ही तुम्हारी जिम्मेदारी खत्म हो जाती है। फिर चाहे कोई भी चीज इधर से उधर हो जाए, तुमको परवाह नहीं, तुम्हारे मन में उसके प्रति अपनत्व की भावना नहीं है।

हमारी दुनिया, हमारा सम्बन्ध 'हम दो और हमारे दो' से ही रहता है। उसके आगे सोच जाती ही नहीं। वही हमारा संसार है। उस सीमा के बाहर के लोगों से हमारा कोई मतलब नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं, सब अनजाने हैं। अपने से जुड़े रहने की वृत्ति को स्वार्थ वृत्ति कहा गया है। इस स्वार्थ को समाप्त करो, दूसरे लोगों से सम्बन्ध स्थापित करके। जब तुम अन्य लोगों से सम्बन्ध स्थापित करोगे तब तुम्हारी स्वार्थ वृत्ति अपने आप कम हो जायेगी।

स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं, 'जब तुम अपने दो बच्चों के लिए जूता खरीदने बाजार जाते हो, तो तीन जोड़े खरीदो। दो तुम्हारे बच्चों के लिए और तीसरा किसी अनजान बच्चे के लिए। कपड़े खरीदते हो, तीन सेट खरीदो, दो तुम्हारे बच्चों के लिए और तीसरा उस बच्चे के लिए जिसे तुम जानते तक नहीं हो। अनजान के साथ अपनत्व की भावना को जागृत कर सकते हो तो तुम्हारी चेतना का, तुम्हारी भावना का विस्तार होगा और स्वार्थ की वृत्ति अपने-आप कम हो जाएगी।'

हर व्यक्ति अपने जीवन में प्रेम और सम्मान की कामना करता है। अगर एक गरीब को भी तुम प्रेम और सम्मान दे सकते हो तो वह अपने जीवन में कभी अभाव नहीं देखेगा। भले ही उसके घर में खाने के लिए अन्न का कण

न हो लेकिन अभाव का आभास नहीं होगा, क्योंकि तुम उसको प्रेम देते हो, सम्मान देते हो। जब किसी को प्रेम और सम्मान देते हो तो याद रखना कि तुम उसके भीतर स्थित ईश्वर को वह प्रेम और सम्मान दे रहे हो। अगर तुम मानते हो कि ईश्वर सब में है, सर्वव्यापक है, तो फिर तुम्हारा यह कर्त्तव्य होता है कि उस ईश्वर को प्रसन्न रखो। जब तुम एक प्यासे को देखते हो, भूलो मत कि उसके भीतर में बैठा हुआ ईश्वर प्यासा है। जब तुम एक भूखे को देखते हो, भूलो मत कि उसके भीतर बैठा हुआ ईश्वर भूखा है। केवल पेट में भूख का अनुभव नहीं होता, बल्कि आत्मा में भी भूख का अनुभव हो रहा है। अगर कोई व्यक्ति दुःखी है तो उसके भीतर ईश्वर भी दुःखी है। मनुष्य दुःखी और ईश्वर सुखी, ऐसा नहीं हो सकता। ईश्वर मनुष्य की भावना का प्रतिबिम्ब है और मनुष्य ईश्वर की भावना का।

यही जीवन का रहस्य है, यही जीवन का सत्य है। जब दूसरों में परमतत्त्व को देख सको और उस परमतत्त्व के उत्थान और विकास के लिए दूसरों के जीवन के अभावों को दूर कर सको तो वही सबसे बड़ी भक्ति है। वही सेवा है, वही प्रेम है और वही आत्मभाव है।

भक्ति का विषय तो बहुत ही व्यापक है। इन तीन दिनों में हम लोगों ने केवल प्रवेशिका का ही अध्ययन किया है, क्योंकि भक्ति की परम्परा तो हमारे देश में बहुत समृद्ध है। शंकराचार्य की अपनी भक्ति है, रामानुजाचार्य की अपनी भक्ति है, वल्लभाचार्य की अपनी भक्ति है, मध्वाचार्य की अपनी भक्ति है, चैतन्य महाप्रभु की अपनी भक्ति है, ज्ञानदेव की अपनी भक्ति है, सभी ने भक्ति दर्शन पर अपना मत और विचार प्रस्तुत किया है। भक्ति की एक भूमिका ही मैं आपको बतला पाया हूँ, जिसमें पाँच प्रकार की भक्ति-विधियों का वर्णन किया है–गीता, रामायण, भागवत, स्वामी शिवानन्द जी और स्वामी सत्यानन्द जी की भक्ति की शिक्षा।

ज्ञानी और भक्त

अन्त में एक बात और। एक भक्त और ज्ञानी में क्या अन्तर होता है? ज्ञानी नदी में तैरता है लेकिन भक्त नाव में बैठकर सोचता है कि मेरा केवट मुझे उस पार ले जायेगा। ज्ञानी स्वावलम्बी रहता है, सोचता है कि मैं अपनी प्रतिभा और विद्या के बल पर सब कुछ प्राप्त कर लूँगा। भक्त समर्पित होता है, कहता है, मेरी कौन-सी शक्ति, मेरी कौन-सी प्रतिभा? ईश्वर मुझसे

जो कराना चाहे कराये। एक ज्ञानी कभी किसी के सामने हाथ नहीं पसारता, भगवान के सामने भी नहीं। भक्त भगवान से हमेशा याचना करता है। ज्ञानी सोचता है कि मैं याचना करके करूँगा क्या, और भक्त सोचता है कि मैं याचना भगवान से नहीं करूँ तो किससे करूँ। ज्ञानी अपनी साधना के बल पर, स्वेच्छा से ऋद्धि और सिद्धि को प्राप्त करने का प्रयास करता है, और भक्त सभी ऐश्वर्यों, विभूतियों और सिद्धियों को ईश्वर के अनुग्रह से तुच्छ मानता है। उसका ध्यान विभूति या ऐश्वर्य की ओर नहीं जाता, केवल इस बात पर रहता है कि किस प्रकार मुझे अपने आराध्य का अनुग्रह प्राप्त हो जाए, वही मेरे जीवन के लिए पर्याप्त है। निर्णय तुमको लेना है, या तो ज्ञानी बनो या फिर भक्त बनो।

हरि ॐ तत्सत्





स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 12 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर विभिन्न संस्कृतियों की गहरी समझ प्राप्त की और सब जगह अपने गुरु के योग-प्रचार कार्य को आगे बढ़ाया।

सन् 1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती; सन् 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा सन् 1995 में बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के साथ उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

सन् 2010 में उन्होंने साधकों को भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के मौलिक स्वरूप का अनुभव कराने के प्रयोजन से संन्यास पीठ की स्थापना की। इसी वर्ष से उनके जीवन में उच्च साधनाओं एवं तीर्थयात्राओं का दौर शुरू हुआ।

सन् 2013 में उन्होंने मुंगेर में बिहार योग विद्यालय की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में विश्व योग सम्मेलन आयोजित किया और यौगिक पुनर्जागरण का शंखनाद किया। इसी वर्ष से उन्होंने दु:साध्य पंचाग्नि तपस्या प्रारम्भ की। सन् 2014 में उन्होंने देशभर में योग का प्रसाद वितरित करने हेतु योगयात्राओं का सिलसिला प्रारम्भ किया। तब से वे यौगिक शिक्षण के उस नए अध्याय को विकसित करने में संलग्न हैं, जिसके माध्यम से लोग अपने यौगिक अनुभव को गहन कर सकेंगे। साथ ही वे भारत की अनेक प्राचीन विद्याओं एवं परम्पराओं की पुनर्प्रतिष्ठा हेतु प्रयासरत हैं।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



'अगर तुम मानते हो कि ईश्वर सब में है, सर्वव्यापक है, तो फिर तुम्हारा यह कर्त्तव्य बनता है कि उस ईश्वर को प्रसन्न रखो। जब तुम एक प्यासे को देखते हो, भूलो मत कि उसके भीतर बैठा हुआ ईश्वर प्यासा है। जब तुम एक भूखे को देखते हो, भूलो मत कि उसके भीतर बैठा हुआ ईश्वर भूखा है। अगर कोई व्यक्ति दुःखी है तो उसके भीतर ईश्वर भी दुःखी है। मनुष्य दुःखी और ईश्वर सुखी, ऐसा नहीं हो सकता। ईश्वर मनुष्य की भावना का प्रतिबिम्ब है और मनुष्य ईश्वर की भावना का। यही जीवन का रहस्य है, यही जीवन का सत्य है। जब दूसरों में परमतत्त्व को देख सको और परमतत्त्व के उत्थान और विकास के लिए दूसरों के जीवन के अभावों को दूर कर सको तो वही सबसे बड़ी भक्ति है।'

सन् 2009 से स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ है और मुंगेर में योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला के अंतर्गत योग के विभिन्न पक्षों पर दिये गये प्रबोधक व्याख्यान स्वामीजी की इसी नयी जीवनशैली के अंग हैं।

4 से 6 जुलाई 2009 तक पादुका दर्शन, मुंगेर में गुरु पूर्णिमा महोत्सव के अंतगर्त आयोजित प्रथम योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला का विषय था भक्ति। स्वामीजी ने अपने सरस, सुबोध सत्संगों में भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या के साथ-साथ भक्ति की व्यावहारिक साधनात्मक पद्धतियों का सुन्दर निरूपण प्रस्तुत किया। भक्ति मार्ग के हर साधक के लिए यह सत्संग-मंजूषा एक अमूल्य धरोहर है।



ISBN :978-93-81620-22-9